नैषधचरितचर्चा
लेखक
महावीरप्रसाद द्विवेदी
प्रकाशक
हरिदास एण्ड कम्पनी

नैषधचरितचर्चा

लेखक

महावीरप्रसाद द्विवेदी

प्रकाशक

हरिदास एण्ड कम्पनी

कलकत्ता

१९१६

१००० कापियाँ } दूसरी आवृत्ति { मूल्य ॥)

Published by Haridas Vaidya trading as
HARIDAS & Co.
201 Harrison Road, Calcutta.

Printed by Babu Rampratap Bhargava,
AT THE **"Narsingh Press"**
201, HARRISON ROAD,
CALCUTTA.

निवेदन

इस पुस्तक की पहली आवृत्ति निकले सोलह सत्रह वर्ष हो गये। उसकी कापियाँ अप्राप्य हो जाने से यह दूसरी आवृत्ति प्रकाशित करनी पड़ी। इस बीच में नैषधचरित के कर्त्ता महाकवि श्रीहर्ष के विषय में अनेक नई नई बातें मालूम हुई हैं। उन में से प्रायः सभी मुख्य मुख्य बातों का समावेश इस आवृत्ति में कर दिया गया है। इस कारण पुस्तक के पूर्वार्द्ध में विशेष परिवर्तन करना पड़ा है। उत्तरार्द्ध में घटाने बढ़ाने की बहुत कम आवश्यकता हुई है। हाँ, भाषा का संशोधन, थोड़ा बहुत, सर्वत्र कर दिया गया है।

जुही, कानपुर—
१६ एप्रिल १९१६

महावीरप्रसाद द्विवेदी

नैषधचरितचर्चा

"उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः" *

संस्कृत के पाँच प्रसिद्ध महाकाव्यों के अन्तर्गत नैषध-चरित के नाम से प्रायः सभी काव्यप्रेमी परिचित होंगे। जिन्होंने संस्कृत का अभ्यास नहीं किया, जो केवल हिन्दी ही जानते हैं, उन के भी कान तक नैषध का नाम शायद पहुँचा होगा। आज हम इसी काव्य के विषय की चर्चा करना चाहते हैं।

काव्य-विभाग

संस्कृत का साहित्य-शास्त्र दो भागों में विभक्त है— एक श्रव्य काव्य, दूसरा दृश्य काव्य। अभिनय अर्थात्

---

* नैषध-काव्य के उदित होते ही कहां माघ और कहां भारवि? अर्थात् नैषध के सामने इन दोनों की प्रभा क्षीण हो गई।

नाटक सम्बन्धी जितने काव्य हैं उन को दृश्य काव्य कहते हैं। परन्तु उस विभाग से यहाँ हमारा प्रयोजन नहीं। हमारा प्रयोजन यहाँ श्रव्य काव्य से है।

श्रव्य काव्य तीन प्रकार का है—गद्यपद्यात्मक, गद्यात्मक और पद्यात्मक।

गद्यपद्यात्मक काव्य को चम्पू कहते हैं—जैसे रामायण-चम्पू, भारत-चम्पू, इत्यादि। हिन्दी में इस प्रकार का कोई अच्छा ग्रन्थ नहीं; हाँ लल्लूलाल के प्रेमसागर को हम यथा-कथञ्चित् इस कक्षा में सन्निविष्ट कर सकते हैं।

गद्यात्मक काव्य के दो विभाग हैं—आख्यायिका और कथा। उदाहरणार्थ—कथासरित्सागर, कादम्बरी, वासवदत्ता इत्यादि। हिन्दी के उपन्यास इसी विभाग के भीतर आ जाते हैं।

पद्यात्मक काव्य त्रिविध हैं—कोषकाव्य, खण्डकाव्य, महाकाव्य।

कोषकाव्य उसे कहते हैं जिस के पद्य एक दूसरे से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखते —जैसे आर्या-सप्तशती, अमरुशतक, भामिनीविलास इत्यादि।

खण्डकाव्य, महाकाव्य की अपेक्षा छोटा होता है और प्रायः सर्गबद्ध नहीं होता। यदि सर्गबद्ध होता भी है तो उस में आठ से अधिक सर्ग नहीं होते। इसके

अतिरिक्त और विषयों में भी उस में महाकाव्य के लक्षण नहीं होते। मेघदूत, ऋतुसंहार, समयमातृका, इत्यादि खण्डकाव्य के उदाहरण हैं।

नैषधचरित की गणना महाकाव्यों में है। दण्डी कवि ने, अपने काव्यादर्श ग्रन्थ में, महाकाव्य का जो लक्षण लिखा है वह हम यहाँ पर उद्धृत करते हैं—

कोई देवता, कोई राजा, अथवा सद्वंशसम्भूत कोई अन्य व्यक्ति, जिसका वर्णन किसी इतिहास अथवा किसी कथा में हुआ हो अथवा न हुआ हो तो भी, उस के वृत्त का अवलम्बन करके जो काव्य लिखा जाता है उसे महाकाव्य कहते हैं। काव्य का नायक चतुर, उदात्त और अशेषसद्गुणसम्पन्न होना चाहिए। महाकाव्य में नगर, पर्वत, नदी, समुद्र, ऋतु, चन्द्रसूर्योदय, उद्यान तथा जलविहार, मधुपान, रतोत्सव, विप्रलम्भ-शृङ्गार, विवाह इत्यादि का वर्णन होना चाहिए। परन्तु इन में से कुछ न्यूनाधिक भी होने से काव्य का महाकाव्यत्व नष्ट नहीं होता। महाकाव्य रस, भाव और अलङ्कारयुक्त होना चाहिए और आठ से अधिक सर्गों में विभक्त होना चाहिए। अभी तक बाईस सर्ग से अधिक सर्गों के महाकाव्य नहीं देखे गये थे*। परन्तु अब हरविजय नामक

---

* श्रीकण्ठचरित भी बहुत बड़ा काव्य है। उस में २५ सर्ग हैं। परन्तु उसके सर्ग इतने लम्बे नहीं जितने नैषधचरित के हैं।

एक पचास सर्ग का काव्य बम्बई की काव्यमाला (मासिक पुस्तक) में प्रकाशित हुआ है। महाकाव्यों के प्रति सर्ग में भिन्न भिन्न प्रकार के वृत्त प्रयुक्त होते हैं; परन्तु कभी कभी दो दो चार चार सर्ग भी एक ही वृत्त में निबद्ध रहते हैं। किसी किसी सर्ग में अनेक वृत्त भी होते हैं। बहुधा प्रति-सर्ग के अन्त में दो एक अन्य अन्य वृत्तों के श्लोक होते हैं और कभी कभी ऐसे स्थलों में लम्बे लम्बे वृत्त प्रयुक्त होते हैं। सब सर्ग न बहुत बड़े और न बहुत छोटे होने चाहिए। परन्तु नैषधचरित का प्रत्येक सर्ग और काव्यों के सर्गों की अपेक्षा बड़ा है। किसी किसी सर्ग में २०० के लगभग श्लोक हैं, और अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग जिस सर्ग में है उस में तो श्लोकों की संख्या २०० के भी ऊपर पहुँची है। इसी से हरविजय को छोड़ कर और सब काव्यों से नैषधचरित बड़ा है। संस्कृत के काव्य विशेष करके शृङ्गार और वीररसात्मक हो हैं; परन्तु बीच बीच में और रस भी हैं।

खेद का विषय है कि आज तक, हिन्दी में, महा काव्य-लक्षणाक्रान्त एक भी काव्य नहीं बना*। तुलसी

---

* हाल में कुछ काव्य ऐसे प्रकाशित हुए हैं जो आलंकारिकों के लक्षणानुसार तो महाकाव्य नहीं; परन्तु उनकी महत्ता प्राचीन महाकाव्यों से कम नहीं। प्रत्युत, समय को देखते, वे उन से भी बढ़कर हैं।

दासकृत रामायण यद्यपि परम रम्य और मनोहर काव्य है तथापि उपरोक्त लक्षणयुक्त न होने से आलङ्कारिकों के मतानुसार उसे महाकाव्यों की श्रेणी में स्थान नहीं मिल सकता। परन्तु हम तो उसे महाकाव्य ही नहीं, किन्तु महामहाकाव्य कहने में भी सङ्कोच नहीं करते।

बँगला और मराठी भाषायें हिन्दी से अधिक सौभाग्यशालिनी हैं। इन भाषाओं में महाकाव्यों की रचना हुए बहुत दिन हुए। बङ्गभाषा में माइकेल मधुसूदन-दत्त-प्रणीत मेघनादवध और बाबू हेमचन्द्र-बन्द्योपाध्याय-प्रणीत वृत्रसंहार तथा मराठी में वासुदेव वामन शास्त्री खरे का लिखा हुआ यशवन्तराय-महाकाव्य—ये सब महाकाव्यों की कक्षा में स्थान पाने योग्य हैं। यद्यपि इन में दण्डी-कथित महाकाव्य के सारे लक्षण नहीं पाये जाते, तथापि इनका कवित्व ऐसा मनोहर है कि इनको महाकाव्य कहना किसी प्रकार अनुचित नहीं। कवि की कल्पना-शक्ति स्फुरित होकर जब अभीष्ट वस्तु का वर्णन करती है तभी कविता सरस और हृदयग्राहिणी होती है; नियमबद्ध हो जाने से ऐसा कदापि नहीं हो सकता। क्योंकि, आलङ्कारिकों के कहे हुए मार्ग का पद पद पर अनुसरण करने से कविता लिखने में जिन प्रसङ्गों की कोई आवश्यकता नहीं होती वे भी बलात् लाने पड़ते हैं और तदनुकूल वर्णन करना पड़ता है।

यह बलात्कार कविता के रमणीयत्व का विघातक होता है। अतः हम पूर्वोक्त नियमरूपी शृङ्खला से अतिशय बद्ध होने के पक्ष में नहीं।

श्रीहर्ष नाम के तीन पुरुष।

नैषधचरित के कर्त्ता श्रीहर्ष का जीवन-चरित बहुत ही कम उपलब्ध है। अपने ग्रन्थ में इन्होंने अपने विषय में जो दो चार बातें कह दी हैं वही प्रामाणिक मानी जाने योग्य हैं। इन के समय तक का निर्भ्रान्त निरूपण नहीं हो सकता, यह और भी दुःख की बात है। यदि हमारे देश का प्राचीन इतिहास लिखा गया होता तो ऐसे ऐसे प्रबन्धों के लिखने में उस का अतिशय उपयोग होता। हमारे पूर्वज और अनेक विषयों में निष्णात होकर भी इतिहास लिखने से इतने पराङ्मुख क्यों रहे, इसका कारण ठीक ठीक नहीं समझ पड़ता। वे प्रवास-प्रिय न थे, अथवा मनुष्यचरित लिखना वे निन्द्य समझते थे, अथवा जीवनचरित उन्होंने लिखे, परन्तु ग्रन्थ ही लुप्त हो गये—चाहे कुछ हो, इस देश का पुरातन इतिहास बहुत ही कम प्राप्त है, इसमें सन्देह नहीं।

भाद्रपद की घोर अन्धकारमयी रात्रि में जैसे अपना पराया नहीं सूझ पड़ता, वैसे ही इतिहास के न होने से ग्रन्थसमूहं का समयनिरूपण अनेकांश में असम्भव सा हो गया है। कौन आगे हुआ, कौन पीछे हुआ, कुछ नहीं कहा जा सकता। इससे हमारे साहित्य के गौरव की बड़ी हानि हुई है। कभी कभी तो समय और प्रसङ्ग जानने ही से परमानन्द होता है। परन्तु, खेद है, संस्कृत-भाषा के ग्रन्थों की इस विषय में बड़ी ही दुरवस्था है। समय और प्रसङ्ग का ज्ञान न होने से अनेक ग्रन्थों का गुरुत्व कम हो गया है। इस अवस्था में भी, जब संस्कृत के विशेष विशेष ग्रन्थों की इतनी प्रशंसा हो रही है तब, किस समय, किसने, किस कारण, कौन ग्रन्थ लिखा—इन सब बातों का यदि यथार्थ ज्ञान होता तो उनकी महिमा और भी बढ़ जाती। जिस प्रकार वन में पड़ी हुई एक सौन्दर्य्यवती मृत स्त्री के हाथ, पैर, मुख आदि अवयवमात्र देख पड़ते हैं, परन्तु यह पता नहीं चलता कि वह कहां की है और किसकी है, वैसे ही इतिहास के बिना हमारा संस्कृत-ग्रन्थ-साहित्य लावारिस सा हो रहा है। यही साहित्य यदि इतिहासरूपी आदर्श में रखकर देखने को मिलता तो जो आनन्द अभी मिलता है उससे कई गुना अधिक मिलता। राज-

तरङ्गिणी, विक्रमाङ्कदेवचरित, कुमारपालचरित, प्रबन्ध-कोश, पृथ्वीराज-विजय, इत्यादि ग्रन्थों का प्रसङ्गवशात् कभी कभी कुछ उपयोग होता है, परन्तु "इतिहास" में इनकी गणना नहीं। इन्हें तो काव्य ही कहना चाहिए, क्योंकि, देशज्ञान, कालक्रम और सामाजिक वर्णन तथा राजनैतिक विवेचन, जो इतिहास के मूलाधार हैं, उनकी ओर इन ग्रन्थों में विशेष ध्यान ही नहीं दिया गया।

एतद्देशीय और विदेशीय विद्वानों ने जो कुछ आज-पर्यन्त खोज करके पता लगाया है उसकी पर्यालोचना करने से हर्ष नाम के तीन पुरुष पाये जाते हैं। एक श्रीहर्ष नाम का काश्मीर-नरेश, दूसरा हर्षदेव अथवा हर्षवर्द्धन नाम का कान्यकुब्ज-नृप (इसका दूसरा नाम शीलादित्य भी था), तीसरा श्रीहर्ष नामक कवि। अब यह देखना है कि इन तीनों में से नैषधचरित किसकी अपूर्व प्रतिभा का विजृम्भण है।

प्रथम काश्मीराधिपति श्रीहर्ष के विषय में विचार कीजिए। कल्हणकृत राजतरङ्गिणी (१) के अनुसार

(१) राजतरंगिणी के ४ भाग हैं। प्रथम भाग में सन् ११४८ ईसवी तक का वृत्त वर्णित है। उस के कर्त्ता कल्हण पण्डित हैं। दूसरे भाग की रचना जोनराज ने की है। उस में सन् १४१२ ईसवी पर्यन्त काश्मीर का इतिहास है। तीसरा भाग श्रीवर पण्डित के द्वारा लिखा गया है। उस में सन् १४७७ ईसवी तक के इतिवृत्त का

इस श्रीहर्ष को सन् १०८१ और १०८७ ईसवी के बीच काश्मीर का सिंहासन प्राप्त हुआ था। इस कालनिर्णय से महामहोपाध्याय पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न (२) तथा बाबू रमेशचन्द्र दत्त (३) ये दोनों विद्द्रत्न सहमत हैं। कुमारी मेबल डफ और मिस्टर विन्सेंट स्मिथ हर्ष का राजत्व-काल १०८८ से ११०१ ईसवी तक मानते हैं। राजतरङ्गिणी के सप्तम तरङ्ग का श्लोक ६११ यह है—

सोऽशेषदेशभाषाज्ञः सर्वभाषासु सत्कविः।
कृती विद्यानिधिः प्राप ख्यातिं देशान्तरेष्वपि॥

इस से स्पष्ट है कि राजा श्रीहर्ष सर्व-भाषानिपुण, परम विद्वान् और उत्तम कवि था। परन्तु उसका बनाया हुआ नैषधचरित कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि ग्रन्थकार ने ग्रन्थ के अन्त में स्वयं लिखा है—

ताम्बूलद्वयमासनञ्च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्।

जिसे कान्यकुब्ज-नरेश के यहाँ पान के दो बीड़े और आसन प्राप्त होने का गर्व है वह कदापि स्वयं राजा नहीं हो सकता। फिर, जिस श्रीहर्ष ने नैषधचरित बनाया

समावेश है। चतुर्थ भाग में प्रजयभट्ट ने अकबर-द्वारा काश्मीर-विजय से लेकर शाह-आलम बादशाह के समय तक का वर्णन किया है।

(२) काव्यप्रकाश की भूमिका देखिए।

(3) See History of Civilization in Ancient India.

है उसी ने "गौडोर्व्वीशकुलप्रशस्ति" और "साहसाङ्क-चरित" भी बनाया है। यह बात, जैसा कि आगे दिखलाया जायगा, नैषध ही से स्पष्ट है। तब कहिए, एक राजा दूसरे राजा की प्रशंसा में क्यों काव्य रचना करने बैठेगा? एक बात और भी है। वह यह है कि राजतरङ्गिणी में नैषधचरित का कुछ भी उल्लेख नहीं। जिस समय जिसने जो जो ग्रन्थ लिखे हैं उसका सविस्तर वर्णन इस ग्रन्थ में है; परन्तु नैषधचरित का नाम न होने से यही निश्चय होता है कि इस महाकाव्य का कर्त्ता कोई और ही है। प्रसिद्ध नाटक "रत्नावली", "प्रियदर्शिका" और "नागानन्द" भी श्रीहर्ष ही के नाम से ख्यात हैं; परन्तु ये दोनों ग्रन्थ भी काश्मीरनरेश श्रीहर्ष के लिखे हुए नहीं हैं। यह बात आगे प्रमाणित की जायगी।

दूसरा श्रीहर्ष कान्यकुब्ज का राजा था। इस का पूरा नाम हर्षदेव था। इस राजा के शासन आदि का वर्णन विन्सेंट स्मिथ साहब ने बड़े विस्तार से लिखा है। यह उनकी पुस्तक—Early History of India—में मिलेगा।

ईसवी सन् के अनुमान ६०० वर्ष पहले बौद्धमत का प्रादुर्भाव हमारे देश में हुआ। यह मत कई सौ वर्षों तक बड़ी धूमधाम से भरतखण्ड में प्रचलित रहा। परन्तु

ईसवी सन् के आरम्भ में वैदिक और बौद्धमतावलम्बियों में परस्पर वाद-प्रतिवाद होते होते इतना धर्मविप्लव हुआ कि बौद्ध लोगों को यह देश छोड़कर अन्यान्य देशों को जाना पड़ा। उन लोगों ने लङ्का, कोरिया, श्याम, चीन, तिब्बत आदि देशों में जाकर अपना जी बचाया और अपना धर्म रक्षित रक्खा। उन देशों में यह मत बड़ी शीघ्रता से फैल गया। इन्हीं देशान्तरित बौद्ध लोगों में से ह्वेन साङ्ग नामक एक प्रवासी, ईसवी सन् के सप्तम शतक के आरम्भ में, बुद्ध की जन्मभूमि भारतवर्ष का दर्शन करने और संस्कृत भाषा सीखने के लिए चीन से आया। १६ वर्ष तक इस देश में रहकर वह ६४५ ईसवी में चीन को लौट गया। वहाँ जाकर उसने प्रवास-वर्णन-विषयक चीनी भाषा में एक ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ का अनुवाद बील साहब ने अँगरेज़ी में किया है। उसे देखने से भारतवर्ष-विषयक सप्तम शतक का बहुत कुछ वृत्तान्त ज्ञात होता है। ह्वेन साङ्ग ने भारतवर्ष में जो कुछ देखा और जिन जिन राजाओं की राजधानियों अथवा राज्यों में वह गया उन सब का वर्णन उसने अपने ग्रन्थ में किया है। इसी ग्रन्थ में ह्वेन साङ्ग ने कान्यकुब्जाधिपति श्रीहर्ष का भी वर्णन किया है। इस राजा ने ६०६ से ६४८ ईसवी तक राज्य किया। कई विद्वानों ने बड़ी योग्यता से इस समय का निर्णय किया

है। मिस्टर रमेशचन्द्र दत्त, डाक्टर हाल, मिस्टर विन्सेंट स्मिथ सभी इस से सहमत हैं। यह वही श्रीहर्ष है जिसके आश्रय में प्रसिद्ध कादम्बरीकार बाण पण्डित था। बाण ने अपने हर्ष-चरित नामक गद्यात्मक ग्रन्थ में इस राजा का चरित वर्णन किया है और अपना राजाश्रित होना भी बताया है।

नैषधचरित के कर्ता ने कान्यकुब्जनरेश के द्वारा सम्मानित होना स्पष्ट लिखा है। अत: यह काव्य इस श्रीहर्ष की कृति नहीं हो सकती। कान्यकुब्ज का राजा कान्यकुब्ज के राजा से किस प्रकार आदृत होगा? फिर एक समय एक ही देश में दो राजा किस प्रकार रह सकेंगे?

ऊपर लिख आये हैं कि "रत्नावली", "प्रियदर्शिका" और "नागानन्द" भी श्रीहर्ष के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन पुस्तकों की प्रस्तावना में लिखा है कि राजा श्रीहर्ष ही ने इनकी रचना की है। अब देखना चाहिए कि यहाँ किस श्रीहर्ष से अभिप्राय है। ये दोनों नाटक काश्मीराधिपति श्रीहर्ष-कृत नहीं हो सकते, क्योंकि राजतरङ्गिणी में इनका कहीं नाम नहीं। जब छोटे छोटे ग्रन्थों का भी नाम इतिहासबद्ध किया गया है तब राजतरङ्गिणी में इनका कहीं भी नाम न मिलने से यही प्रमाणित होता है कि ये काश्मीर के राजा श्रीहर्ष के रचे हुए नहीं हैं।

काश्मीरमें अनन्तदेव नामक नरेश श्रीहर्ष के पहले हो गया है। राजतरङ्गिणी के सप्तम तरङ्गमें, १३५ से २३५ श्लोकों तक, अनन्तदेव का वर्णन है। उस से व्यक्त होता है कि यह राजा १०६५ ईसवी के लगभग, अर्थात् श्रीहर्ष से कोई २६ वर्ष पहले, विद्यमान् था। जिस समय काश्मीर में अनन्तदेव सिंहासनासीन था उसी समय राजा भोज धारा में था। डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र (१) ने भोज का समय १०२६ से १०८३ ईसवी तक, अथवा दो एक वर्ष इधर उधर, स्थिर किया है। राजा भोज ने सरस्वतीकण्ठाभरण नामक अलङ्कार-शास्त्र का एक ग्रन्थ बनाया है। यह ग्रन्थ उसी प्रसिद्ध मालवाधिप भोजदेव कृत है। इस बात को सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं। अब देखिए, सरस्वतीकण्ठाभरण में रत्नावली के कई श्लोक उदाहरणस्वरूप उद्धृत हैं। यदि रत्नावली काश्मीरनरेश श्रीहर्ष-कृत होती तो उसके श्लोक भोजकृत सरस्वतीकण्ठाभरण में कदापि उद्धृत न हो सकते, क्योंकि, भोजदेव के अनन्तर श्रीहर्ष ने काश्मीर की गद्दी पाई है। यदि भोज की मृत्यु १०८३ ईसवी में हुई मानी जाय तो श्रीहर्ष के राज्य-प्राप्ति-काल (१०८१ और १०८७ ईसवी के मध्य) से थोड़ा ही अन्तर रह जाता है। परन्तु राजा होने के पहले ही

(1) See, Indo-Aryans, Vol. II.

श्रीहर्ष ने रत्नावली लिखी और लिखी जाने पर वह वर्ष ही छः महीने में काश्मीर से मालवा पहुँची, यह असम्भव सा जान पड़ता है। यही मत महामहोपाध्याय पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न का भी है।

काश्मीरदेशवासी मम्मटभट्ट-कृत काव्यप्रकाश में लिखा है—

"श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनम्"

इसकी टीका पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न ने इस प्रकार की है—

"धावकः किल श्रीहर्षनाम्ना रत्नावलीं कृत्वा बहुधनं लब्धवानिति प्रसिद्धिः।"

अर्थात् धावक कविने श्रीहर्ष के नाम से रत्नावली की रचना करके बहुत धन प्राप्त किया। इस आख्यायिका का अवलम्बन करके रत्नावली और नागानन्द का कर्तृत्व लोग श्रीहर्ष पर मँढते हैं। परन्तु इस कथा से काश्मीराधिपति श्रीहर्ष का कोई सम्बन्ध नहीं। यदि धावक द्वारा रत्नावली का रचा जाना मानें तो यह भी मानना पड़ेगा कि वह एकादश शताब्दी से बहुत पहले लिखी गई थी, क्योंकि मालविकाग्निमित्र की प्रस्तावना में कालिदास ने कहा है—

"मा तावत्। प्रथितयशसां धावकसौमिल्लककवि-पुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य कृतौ किं कृतो बहुमानः?"

इस से स्पष्ट है कि धावक कालिदास से पहले हो गया है। प्रोफेसर वेबर (१) और लासन (१) के मत में कालिदास ईसवी सन् की दूसरी और चौथी शताब्दी के मध्य में वर्त्तमान थे। परन्तु डाक्टर कर्न (१) के मत में ये छठी शताब्दी के आदि में थे। बाबू रमेशचन्द्रदत्त (२) का भी वही मत है जो डाक्टर कर्न का है। अब तो कालिदास का समय ईसवी सन् की पाँचवीं या छठी शताब्दी भी माना जाने लगा है। अतः यह सिद्ध है कि धावक कवि छठी शताब्दी के प्रथम हुआ है। जब यह सिद्ध है तब श्रीहर्ष से उस का धन पाना किसी प्रकार सम्भव नहीं, क्योंकि दोनों श्रीहर्ष उसके बहुत काल पीछे हुए हैं।

रत्नावली धावक ने नहीं बनाई; काश्मीरनरेश श्रीहर्ष ने नहीं बनाई। फिर बनाई किसने? यदि उसे कान्य-कुब्जाधीश श्रीहर्ष-कृत मानते हैं तो इस राजा के सुशि-क्षित और विद्वान् होने पर भी इस का कवि होना कहीं नहीं लिखा। यदि नैषधचरितकार श्रीहर्ष-कृत मानते हैं तो नैषध में उसी कवि के किये हुए और ग्रन्थों के जो

(1) See, History of Indian Literature.

(2) See, History of Civilization in ancient India.

नाम हैं उनमें रत्नावली का नाम नहीं आया। इसलिए यह शङ्का सहज ही उद्भूत होती है कि यह नाटिका किसी और ही ने लिखी है।

एक बार डाक्टर बूलर ने काश्मीर में घूम फिर कर वहां अनेक हस्तलिखित पुस्तकें प्राप्त कीं। इन पुस्तकों में काव्यप्रकाश की जितनी प्रतियाँ उन को मिलीं उन सभी में "श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनम्" के स्थान में "श्रीहर्षादेर्बाणादीनामिव धनम्"—यह पाठ मिला। इस विषय पर उन्होंने एक लेख प्रकाशित किया। उसी के आधार पर डाक्टर हाल ने वासवदत्ता की भूमिका में यह लिखा है कि बाण ही ने कान्यकुब्जाधीश्वर श्रीहर्ष के नाम से रत्नावली और नागानन्द की रचना की है। जिस मम्मटभट्ट ने काव्यप्रकाश बनाया है वह काश्मीर ही का निवासी था। अतएव काश्मीर में प्रचलित काव्य-प्रकाश की प्रतियों में धावक का नाम न मिलने से यही अनुमान होता है कि वह इस ओर की पुस्तकों में प्रमादवश लिखा गया है और एक को देख दूसरी प्रति करने में वही प्रमाद होता चला आया है। किसी किसी का यह भी मत है कि बाणभट्ट ही का दूसरा नाम धावक था। इस समय अनेक पुरातत्ववेत्ताओं की यही सम्मति है कि रत्नावली, नागानन्द, प्रियदर्शिका, कादम्बरी का पूर्व्वार्द्ध, हर्षचरित, पार्वतीपरिणय नाटक

और चण्डीशतक ग्रन्थ एक ही कवि अर्थात् बाण ही के रचे हुए हैं। उसी ने रत्नावली की रचना करके कान्यकुब्ज के राजा श्रीहर्ष से बहुत सा धन प्राप्त किया और उसी ने हर्षचरित नामक ग्रन्थ में श्रीहर्ष का चरित लिखा है। परन्तु, ऐसे भी कई विद्वान् हैं जो कान्यकुब्ज-नरेश श्रीहर्ष को कवि मानते हैं और रत्नावली आदि नाटकों की रचना करनेवाला उसी को समझते हैं।

बाणभट्ट के विषय में एक आख्यायिका प्रसिद्ध है। वह प्रसङ्ग-वश हम यहाँ लिखे देते हैं—

हर्षचरित के प्रथमोच्छ्वास के अन्त में बाण ने अपने पिता का नाम चित्रभानु और माता का राज्यदेवी लिखा है। बाण की जन्मभूमि सोन नदी के पश्चिम ओर प्रीतिकूट नामक ग्राम था। माता-पिता का वियोग इसे बाल्यावस्था ही में सहन करना पड़ा था। १४ वर्ष की उम्र में भद्रनारायण, ईशान और मयूरक नामी अपने तीन मित्रों के साथ इस ने विदेशयात्रा की और कान्यकुब्ज-प्रदेश में पहुँचने पर वहाँ के राजा श्रीहर्ष के यहाँ आश्रय पाया। सुनते हैं, बाणभट्ट के मित्र मयूरक अथवा मयूर को कुष्ट हो गया था। तन्निवारणार्थ मयूर ने सूर्य्यशतक काव्य लिख कर सूर्य्यदेवता को प्रसन्न किया। इस का यह फल हुआ कि मयूर का कुष्ट जाता रहा। इस अलौकिक कवित्व-प्रभाव को देखकर

बाण को यहाँ तक मत्सर उत्पन्न हुआ कि उस ने अपने हाथ और पैर दोनों तोड़ लिये और तोड़ कर भगवती चण्डिका के प्रीत्यर्थ चण्डीशतक की रचना की। चण्डी की दया से उसके हाथ पैर पुनर्वार पूर्ववत् हो गये। इस आख्यायिका की सत्यता अथवा असत्यता के विचार करने का यहाँ प्रयोजन नहीं; और यदि हो भी तो तदर्थ कोई परिपुष्ट प्रमाण नहीं प्रस्तुत किया जा सकता। तथापि यह निर्विवाद है कि ये दोनों शतक उत्तम कविता के नमूने हैं। ये प्रचलित भी हैं। प्रत्येक का आदिम श्लोक हम यहाँ पर उद्धृत करते हैं—

सूर्यशतक—

जम्भारातीभकुम्भोद्भवमिव दधतः सान्द्रसिन्दूररेणुं
रक्ताःसिक्ता इवौघैरुदयगिरितटीधातुधाराद्रवस्य।
आयान्त्या तुल्यकालं कमलवनरुचेवारुणा वो विभूत्यै
भूयासुर्भासयन्तो भुवनमभिनवा भानवो भानवीयाः॥

चण्डीशतक—

मा भाङ्क्षीर्विभ्रमं भ्रूरधर! विधुरता केयमस्यास्य! रागं
पाणे!प्राण्येव नाऽयं(१)कलयसि कलहश्रद्धया किं त्रिशूलम्।
इत्युद्यत्कोपकेतून्प्रकृतिमवयवान्प्रापयन्त्येव देव्या
न्यस्तो वो मूर्ध्नि मुष्यान्मरुदसुहृदसून्संहरन्नङ्घ्रिरंहः॥

(१) ना = पुरुषः।

सूर्य्यशतक का श्लोक अनुप्रासबाहुल्य से भरा हुआ है। उस में उतना रस नहीं है जितना चण्डीशतक के श्लोक में है। चण्डीशतक का पद्य बहुत सरस है। इस कारण हम उस का भावार्थ भी लिखे देते हैं—

हे भ्रुकुटि! तू अपने स्वाभाविक विभ्रम का भङ्ग मत कर। हे ओष्ठ! यह तेरी व्याकुलता कैसी? हे मुख (क्रोधव्यञ्जक) अरुणिमा को छोड़। हे हस्त! यह एक साधारण प्राणी है; कोई विलक्षण जीव नहीं। फिर, युद्ध की इच्छा से तू क्यों त्रिशूल उठा रहा है? कोप के चिन्हों से युक्त अपने अवयवों को इस प्रकार सम्बोधन-पूर्वक प्रकृतिस्थ सी करने वाली भगवती चण्डिका का, महिषासुर के प्राण हरण करके, उस के मस्तक पर रक्खा हुआ चरण तुम्हारा पातकोत्पाटन करे!

इन श्लोकों में 'वः' (तुम्हारा) के स्थान में यदि 'नः' (हमारा) होता तो यह पिछला प्रयोग पूर्वोक्त किंवदन्ती का अंशतः समर्थक हो जाता।

कान्यकुब्ज के राजा श्रीहर्ष के प्रसङ्ग में यहाँ पर हमें बाणभट्ट की भी कुछ बातें लिखनी पड़ीं। इस कवि के विषय में श्रीयुत पाण्डुरङ्ग गोविन्द शास्त्री पारखी ने कोई २०० पृष्ठों की एक पुस्तक मराठी में लिखी है। वह बड़ी खोज से लिखी गई है। जिन्हें इस कवि के विषय में विशेष बातें जाननी हों वे इस पुस्तक को देखें।

श्रीहर्ष-विषयक कुछ बातें।

यहाँ तक के विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि काश्मीर और कान्यकुब्ज के नरेश श्रीहर्ष का नैषधचरित के रचयिता श्रीहर्ष से कोई सम्बन्ध नहीं। नैषध में कवि ने प्रत्येक सर्ग के अन्त में एक एक श्लोक ऐसा दिया है जिसका प्रथमार्द्ध सब सर्गों में वही है। यथा, प्रथम सर्ग में—

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।

अर्थात् सकल कवियों के मुकुटमणि श्रीहीर नामक पिता, और मामल्लदेवी नाम्नी माता ने जिस जितेन्द्रिय सुत श्रीहर्ष को उत्पन्न किया—

तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले शृंगारभंग्या महा-
काव्ये चारुणि (१) नैषधीयचरिते सर्गोऽयमादिर्गतः॥

उस के चिन्तामणिमन्त्र की उपासना का फलस्वरूप शृङ्गाररसप्रधान, अत्यन्त रमणीय, नैषधचरित, महाकाव्य का प्रथम सर्ग समाप्त हुआ।

---

(१) इस श्लोकार्द्ध में "चारुणि" पद ध्यान में रखने योग्य है। श्रीहर्ष की यह प्रथम गर्वोक्ति है।

इस से यह जाना गया कि श्रीहर्ष के पिता का नाम श्रीहीर और माता का नाम मामल्लदेवी था। परन्तु ये कौन थे? कब हुए? कहाँ रहे? कहाँ कहाँ गये? इत्यादि बातों का विशेष पता नहीं लगता। इनके विषय में जो विशेष बातें जानी गई हैं उन का उल्लेख आगे किया जायगा। यहाँ पर विद्वानों के कुछ अनुमानों का उल्लेख किया जाता है।

डाक्टर बूलर का अनुमान है कि नैषधचरित ईसवी सन् की बारहवीं शताब्दी में निर्म्मित हुआ होगा। बाबू रमेशचन्द्रदत्त लिखते हैं (१) कि राजशेखर ने श्रीहर्ष की जन्मभूमि काशी बतलाई है और वङ्गदेश के प्रधान कवि विद्यापति ने, जो चौदहवीं शताब्दी में हुए हैं, यहाँ तक कहा है कि श्रीहर्ष वङ्गदेश के वासी थे। बाबू रमेशचन्द्रदत्त का कथन है कि पुरातत्ववेत्ता विद्वानों ने, श्रीहर्ष का पश्चिमोत्तर प्रदेश छोड़ कर वङ्गदेश को जाना जो अनुमान किया है उस का सत्य होना सम्भव है। परन्तु कोई कोई नैषधचरित के सोलहवें सर्ग के अन्तिम—

काश्मीरैर्महिते (२) चतुर्दशतयीं विद्यां विदद्भिर्महा-
काव्ये तद्भुवि नैषधीयचरिते सर्गोऽगमत् षोडशः ॥

---

(१) See, History of Civilization in ancient India, Vol. III

(२) "महिते" पद का प्रयोग करना श्रीहर्ष की दूसरी दर्पोक्ति हुई।

इस श्लोकार्द्ध से श्रीहर्ष का सम्बन्ध काश्मीर से बतलाते हैं। श्लोकार्द्ध का भाव यह है कि चतुर्दश विद्याओं में पारङ्गत काश्मीरदेशीय विद्वानों ने जिस महाकाव्य की पूजा की है उस नैषधचरित का सोलहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

किसी किसी पण्डित के मुख से हम ने यह भी सुना है कि काव्यप्रकाश के बनाने वाले प्रसिद्ध आलङ्कारिक मम्मट भट्ट श्रीहर्ष के मामा थे। इस सम्बन्ध में एक जनश्रुति भी है। इसे पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने अपने एक निबन्ध में स्थान भी दिया है। कौतुकावह होने के कारण हम भी उसे नीचे (१) फुट नोट में लिखते हैं।

---

(१) कहते हैं, नैषधचरित की रचना करके श्रीहर्ष ने उसे अपने मामा मम्मट भट्ट को दिखलाया। मम्मट भट्ट ने उसे साद्यन्त पढ़कर श्रीहर्ष से खेद प्रकाशित किया और कहा कि यदि तुम इस काव्य को लिख कर कुछ पहले हमें दिखलाते तो हमारा बहुत कुछ परिश्रम बच जाता। काव्यप्रकाश के सप्तमोल्लास में दोषों के उदाहरण देने के लिए नाना ग्रन्थों से जो हमने दूषित पद्य संग्रह किये हैं उस में हम को बहुत परिश्रम और बहुत खोज करनी पड़ी है। यदि तुम्हारा नैषधचरित उस समय हमारे हाथ लग जाता तो हमारा प्रायः सारा परिश्रम बच जाता। क्योंकि, अकेले इसी में सब दोषों के उदाहरण भरे हुए हैं।

काश्मीरवासी पण्डितों के द्वारा नैषधचरित की पूजा होना सम्भव है। परन्तु इससे यह नहीं सिद्ध होता कि श्रीहर्ष उस देश के रहनेवाले थे। श्रीहर्ष किसी कान्यकुब्ज राजा के यहाँ थे, यह तो निर्भ्रान्त ही है। राजाओं के यहाँ देश-देशान्तर से पण्डित आया ही करते हैं। काश्मीर देश के पण्डित कान्यकुब्जेश्वर के यहाँ आये होंगे और प्रसङ्गवशात् वहाँ नैषधचरित को देखकर उस की प्रशंसा की होगी। अथवा नैषधचरित को काश्मीर में ही देखकर उन्होंने उस की प्रशंसा की होगी। इस में आक्षेप का कारण नहीं देख पड़ता। विद्या के लिए काश्मीर प्रसिद्ध था। इस कारण पण्डितों की समालोचना के लिए श्रीहर्ष के द्वारा नैषधचरित का वहाँ भेजा जाना असम्भव नहीं। इस विषय में लिखित प्रमाण भी मिला है। उसका उल्लेख आगे होगा। अतएव इस इतनी बात से श्रीहर्ष का काश्मीरवासी होना प्रमा-

---

श्रीहर्ष ने पूछा, दो एक दोष बतलाइए तो सही। इस पर मम्मट भट्ट ने द्वितीय सर्ग का बासठवां श्लोक पढ़ दिया। इस श्लोक का प्रथम चरण यह है—"तव वर्त्मनि वर्ततां शिवं", जिसका अर्थ है "तुम्हारी यात्रा कल्याण-कारिणी हो"। परन्तु इसी चरण का पदच्छेद दूसरे प्रकार से करने पर उलटा अर्थ निकलता है—"तव वर्त्म निवर्ततां शिवं" अर्थात् "तुम्हारी यात्रा अकल्याण-कारिणी हो"। यह वाक्य दमयन्ती के पास जाने को प्रस्तुत हंस से नल ने कहा है।

चित नहीं हो सकता। रही मम्मट भट्ट और श्रीहर्ष की आख्यायिका। सो वह ऐतिहासिक न होने के कारण किसी प्रकार विश्वसनीय नहीं। अकबर और बीरबल, तथा भोज और कालिदास-विषयक किंवदन्तियाँ जैसे नित्य नई सुनते हैं वैसे ही यह भी है।

फ़र्रुख़ाबाद के ज़िले में क़न्नौज के पास मीरांसराय नाम का एक क़सबा है। वहाँ विशेष करके कान्यकुब्ज-मिश्र लोगों की बस्ती है। ये मिश्र श्रीहर्ष को अपना पूर्वज बतलाते हैं और कहते हैं कि हम लोग पहले त्रिपाठी थे। परन्तु श्रीहर्ष जी ने एक यज्ञ किया, जिससे हम मिश्र-पदवी को प्राप्त हुए। श्रीहर्षजी का राजमान्य होना भी ये सूचित करते हैं। परन्तु वे हुए कब, इसका पता उन्हें नहीं। जैसा कि आगे लिखा जायगा, इन लोगों का अनुमान सच जान पड़ता है। मीराँ-सराय में रहनेवाले विद्वान् का वहीं निकटवर्ती क़न्नौज के राजा की सभा में रहना बहुत ही सम्भव है।

सुनते हैं, वङ्गदेश में पहले सत्पात्र ब्राह्मण न थे। इस न्यूनता को दूर करने के लिए सेनवंशीय आदिशूर नामक राजा ने कान्यकुब्ज-प्रदेश से परम विद्वान् पाँच ब्राह्मणों को बुलाकर अपने देश में बसाया था। इन पाँच में से एक श्रीहर्षनामी भी थे। डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र ने आदिशूर का स्थिति-काल ईसवी सन् की दशम

शताब्दी (८८६ में) स्थिर (१) किया है। यदि ये वही श्रीहर्ष थे जिन्होंने नैषधचरित लिखा है तो डाक्टर बूलर का यह कहना ठीक नहीं कि नैषधचरित बारहवीं शताब्दी का काव्य है। नैषधचरित के सप्तम सर्ग के अन्त में—

गौडोर्व्वीशकुलप्रशस्तिभणितिभ्रातर्य्ययं (२) तन्महाकाव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽगमत्सप्तमः ॥

और नवम सर्ग के अन्त में—

संदृब्धार्णववर्णनस्य (३) नवमस्तस्य व्यरंसीन्महाकाव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः (४)

ये जो श्लोकार्द्ध हैं इनसे जाना जाता है कि श्रीहर्षने "गौडोर्व्वीशकुलप्रशस्ति" और "अर्णववर्णन" ये दो काव्य

---

(१) See, Indo-Aryans, Vol. II.

(२) अर्थात् "गौडोर्व्वीशकुलप्रशस्ति" नामक काव्य के भ्राता नैषधचरित का सातवां सर्ग पूरा हुआ।

(३) अर्थात् "अर्णववर्णन" नामक काव्य के कर्ता श्रीहर्षरचित नैषधचरित का नवम सर्ग समाप्ति को पहुँचा।

(४) "निसर्गोज्ज्वलः" (अत्यन्त उज्ज्वल) यह श्रीहर्ष की तीसरी दर्पोक्ति हुई। "चारुणि" और "निसर्गोज्ज्वलः" की तो कुछ गिनती ही नहीं; न जाने कितनी दफे इन का प्रयोग आपने किया है।

लिखे हैं। समुद्र-वर्णन और गौड़ेश्वर की प्रशस्ति-रचना से अनुमान होता है कि श्रीहर्ष कान्यकुब्जनरेश के यहाँ से गौड़ देश को गये होंगे। क्योंकि वहाँ गये बिना वहाँ के राजा तथा समुद्र का वर्णन युक्तिसङ्गत नहीं कहा जा सकता। गौड़ जाने ही पर समुद्र के दर्शन हुए होंगे और दर्शन होने ही पर उस का वर्णन लिखने की इच्छा श्रीहर्ष को हुई होगी। परन्तु, यह सब अनुमान ही अनुमान है। श्रीहर्ष गौड़ देश को गये हों या न गये हों, एक बात प्रायः निश्चित सी है। वह यह कि नैषध के कर्त्ता श्रीहर्ष आदि-शूर के समय में नहीं हुए। वे उस के कोई २०० वर्ष बाद हुए हैं।

यदि यह मान लिया जाय कि गौड़ेश्वर के आश्रय में रहने ही के कारण श्रीहर्ष ने गौडोर्व्वीशकुलप्रशस्ति लिखी तो यह हो कैसे सकता है। श्रीहर्ष तो कान्यकुब्ज-नरेश के आश्रय में थे। पर, सम्भव है, गौड़नरेश की प्रार्थना पर कान्यकुब्ज राजा की आज्ञा से वे वहाँ गये हों। अथवा कान्यकुब्ज राजा के मरने पर निराश्रय हो जाने के कारण वे गौड़-देश को चले गये हों। अथवा गौड़राज और कान्यकुब्जेश्वर में परस्पर मित्रता रही हो। इस दशा में अपने आश्रय-दाता के मित्र का वर्णन करना श्रीहर्ष के लिए अनुचित नहीं कहा जा सकता।

नैषधचरित के अन्तिम सर्ग के श्लोक १५१ का उत्तरार्द्ध यह है—

द्वाविंशो नव (नृप) साहसांकचरिते चम्पूकृतोऽयं महाकाव्ये तस्य कृतौ नलीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः॥

जिससे ज्ञात होता है कि श्रीहर्ष ने "साहसाङ्क-चम्पू" भी बनाया है। टीकाकार नारायण पण्डित इस श्लोक की टीका में लिखते हैं—

नृपसाहसांकेति पाठे नृपश्चासौ साहसांकश्च तस्य गौडेन्द्रस्य चरिते विषये।

जिस से यह सूचित होता है कि साहसाङ्क गौड़देश का राजा था। डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र ने इस राजा के नाम का उल्लेख अपने इंडू-एरियन पुस्तक में कहीं नहीं किया, जिस से नारायण पण्डित का कथन पुष्ट नहीं होता। हरिमोहन प्रमाणिक इत्यादि विद्वान् साहसाङ्क को कान्यकुब्ज का राजा बतलाते हैं और उस का होना ८०० ईसवी के लगभग लिखते हैं। परन्तु इस बात का भी कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता।

नव-साहसाङ्क—तो पदवी मात्र जान पड़ती है। नवसाहसाङ्कचरित नामक काव्य, जो प्रकाशित हो गया है, चम्पू नहीं, किन्तु छन्दोबद्ध महाकाव्य है। वह परि-

मल उर्फ पद्मगुप्त कवि की रचना है ; श्रीहर्ष का बनाया हुआ नवसाहसाङ्कचरित-चम्पू और ही है। नवसाहसाङ्कचरित में उज्जयिनी के राजा सिन्धुराज का वर्णन है—वर्णन क्या है तद्विषयक एक गप सी है। उस में राजा का पातालगमन और नागकन्या शशिप्रभा के साथ उसके विवाह इत्यादि की असम्भवनीय बातें हैं। यह राजा परमारवंशीय था। इस के मन्त्री का नाम यशोभट था। डाक्टर बूलर और प्रोफ़ेसर ज़करिया ने नवसाहसाङ्कचरित पर एक उत्तम लेख लिखा है। नवसाहसाङ्क गौड़देश का नहीं, किन्तु मालवे का राजा था। उस का स्थिति-काल ९९५—१०१० ईसवी माना जाता है। इन बातों से सिद्ध है कि नवसाहसाङ्कचरित से श्रीहर्ष का कोई सम्बन्ध नहीं। वे मालवे के राजा सिन्धुराज के बाद हुए हैं और क़न्नौज के राजा जयचन्द के समय में विद्यमान थे। अतएव उन का स्थिति-काल ईसा की बारहवीं शताब्दी मालूम होता है। मोरांसराय के मिश्र लोगों का श्रीहर्ष को अपना पूर्वज कहना और क़न्नौज के राजा के यहाँ उन का मान पाना इत्यादि बातें इस अनुमान की पुष्टि करती हैं।

अच्छा, अब आदिशूर राजा के यहाँ श्रीहर्ष नाम के पण्डित के जाने की कहानी सुनिए। उस के यहाँ जब श्रीहर्ष पहुँचे हैं तब जैसे इन के साथ गये हुए और और

पण्डितों ने अपना अपना परिचय दिया, वैसे ही इन्हों ने भी दिया। इन का परिचायक श्लोक रहस्यसन्दर्भ नामक ग्रन्थ से हम नीचे उद्धृत करते हैं—

नाम्नाहं श्रीलहर्षः क्षितिपवर ! भरद्वाजगोत्रः पवित्रो
नित्यं गोविन्दपादाम्बुजयुगहृदयः सर्वतीर्थावगाही ।

चत्वारः सांगवेदा मम मुखपुरतः पश्य पाणौ धनुर्मे
सर्वं कर्तुं क्षमोऽस्मि प्रकटय नृपते ! त्वन्मनोऽभीष्टमाशु ॥

कलकत्ता-निवासी श्रीयुत रघुनाथ वेदान्तवागीश ने स्वरचित श्रीकृष्णककारादि नामक भाष्य की भूमिका में अपने को श्रीहर्ष का वंशज बताया है और श्रीहर्ष की स्तुति में एक श्लोक भी दिया है। यथा—

वेदान्तसिद्धान्तसुनिश्चयार्थो
दीक्षाक्षमादानदयार्द्रचित्तः ।
परात्मविद्यार्णवकर्णधारः
श्रीहर्षनामा भुवनं तुतोष ॥

इन दो श्लोकों को देखने से जान पड़ता है कि ये श्रीहर्ष जी वेदान्त-विद्या में परम निष्णात थे; तथा दर्शन-शास्त्र के भी उत्कृष्ट वेत्ता थे। पर ये श्रीहर्ष नैषधचरित के कर्त्ता श्रीहर्ष नहीं हो सकते। जो श्रीहर्ष आदिशूर के यहाँ गये थे वे भारद्वाज गोत्र के थे। नैषधचरित के

कर्त्ता तो उस समय पैदा ही न हुए थे। फिर यदि मीरांसराय के मिश्रोंका कथन माना जाय तो उन के पूर्वज श्रीहर्ष का गोत्र शाण्डिल्य था। एक बात और भी है। आदिशूर के श्रीहर्ष "गोविन्दपादाम्बुजयुग"-सेवी अर्थात् वैष्णव थे; परन्तु नैषधचरित वाले श्रीहर्ष "चिन्तामणिमन्त्र" की चिन्तना करनेवाले थे। यह मन्त्र भगवती का है। अतएव नैषधचरित के प्रणेता श्रीहर्ष शाक्त मालूम होते हैं।

श्रीहर्ष का समयादि-निरूपण।

यहाँ तक श्रीहर्ष के विषय में आनुमानिक बातों का उल्लेख हुआ। अब उनके समय आदि के निरूपण से सम्बन्ध रखने वाली कुछ विशेष बातें लिखी जाती हैं।

राजशेखर सूरि नाम का एक जैन कवि हो गया है। उसका स्थिति-काल विक्रम-संवत् १४०५ (१३४८ ईसवी) के आसपास माना जाता है। उसका बनाया हुआ एक ग्रन्थ प्रबन्धकोश नामक है। उसमें उसने लिखा है कि श्रीहीर के पुत्र श्रीहर्ष ने कान्यकुब्ज-नरेश गोविन्दचन्द्र के पुत्र जयन्तचन्द्र की आज्ञा से नैषधचरित

बनाया। यदि यह बात सच है तो श्रीहर्ष का जयचन्द ही के आश्रय में रहना सिद्ध है। जयचन्द और मुहम्मद ग़ोरी का युद्ध ११८५ ईसवी में हुआ था। अतएव श्रीहर्ष ईसा की बारहवीं सदी के अन्त में अवश्य ही विद्यमान् थे।

इंडियन ऐंटिक्वेरी (१५—१११२) में राजा जयचन्द्र का जो दानपत्र छपा है उसमें—

त्रिचत्वारिंशदधिकद्वादशशतसंवत्सरे आषाढ़े मासि शुक्ल-पक्षे सप्तम्यां तिथौ रवि-दिने अंकतोऽपि संवत् १२४३ आषाढ़-सुदि ७ रवौ—

इस प्रकार संवत् १२४३ स्पष्ट लिखा है। यह दानपत्र प्राचीन लेख-माला के प्रथम भाग में भी छपा है। इंडियन ऐंटिक्वेरी (१५-७८८) में जयचन्द का एक और भी दानपत्र छपा है। यह उस समय का है जब जयचन्द युवराज थे। इस में १२२५ संवत् दिया हुआ है।

राजशेखर सूरि ने जयन्तचन्द्र को (इसी को जयचन्द्र भी कहते थे) गोविन्दचन्द्र का पुत्र कहा है। परन्तु यह ठीक नहीं। जयचन्द के पिता का नाम विजयचन्द्र था और विजयचन्द्र के पिता का गोविन्दचन्द्र था। यह बात उन दो दानपत्रों से सिद्ध है जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। दानपत्र में जयचन्द की वंशावलि इस प्रकार लिखी है—

यशोविग्रह, महीचन्द्र, चन्द्रदेव, मदनपाल, गोविन्दचन्द्र, विजयचन्द्र, जयचन्द्र ।

पीछे के तीन राजाओं के पिता-पुत्र-सम्बन्ध-सूचक पद्य भी, राजा जयचन्द के दानपत्र से, हम नीचे उद्धृत करते हैं—

तस्मादजायत निजायतबाहुवल्ली—
बन्धावरुद्धनवराज्यगजो नरेन्द्रः ।
सान्द्रामृतद्रवमुचां प्रभवो गवां यो
गोविन्दचन्द्र इति चन्द्र इवाम्बुराशेः ॥ १ ॥

अजनि विजयचन्द्रो नाम तस्मान्नरेन्द्रः
सुरपतिरिव भूभृत्पक्षविच्छेददक्षः ।
भुवनदहनहेलाहर्म्यहम्मीरनारी—
नयनजलदधाराधौतभूलोकतापः ॥ २ ॥

तस्माददद्भुतविक्रमादथ जयचन्द्राभिधानः पति-
र्भूपानामवतीर्ण एष भुवनोद्धाराय नारायणः ।
द्वैधीभावमपास्य विग्रहरुचिं धिक्कृत्य शान्ताशयाः
सेवन्ते यमुदग्रबन्धनभयध्वंसार्थिनः पार्थिवाः ॥ ३ ॥

राजशेखर सूरि ने १३४८ ईसवी में प्रबन्धकोश नामक ग्रन्थ लिखा है। उसमें उसने श्रीहीर, श्रीहर्ष, और जयचन्द इत्यादि के विषय में जो कुछ कहा है वह संक्षेपतः यह है—

काशी में गोविन्दचन्द्र नाम का एक राजा था।

उसके पुत्र का नाम जयचन्द्र था। (दानपत्रों के अनुसार गोविन्दचन्द्र का पुत्र विजयचन्द्र और विजय-चन्द्र का पुत्र जयचन्द्र था) उसको, अर्थात् जयचन्द्र को, सभा में हीर नाम का एक विद्वान् था। उस को सभा में, राजा के सम्मुख, एक दूसरे विद्वान् ने—उदयनाचार्य्य ने—शास्त्रार्थ में परास्त कर दिया। हीर जब मरने लगा तब उसने अपने पुत्र श्रीहर्ष से कहा कि यदि तू सत्पुत्र है तो जिस पण्डित ने मुझे परास्त किया है उसे तू राजा के सम्मुख अवश्य परास्त करना। श्रीहर्ष ने कहा—"बहुत अच्छा"।

पिता के मरने पर श्रीहर्ष ने देशदेशान्तरों में जाकर तर्क, व्याकरण, वेदान्त, गणित, ज्योतिष, अलङ्कार इत्यादि अनेक शास्त्र पढ़े। फिर गङ्गातट पर एक वर्ष-पर्य्यन्त चिन्तामणि-मन्त्र की साधना कर के उन्होंने भगवती त्रिपुरा से वर प्राप्त किया। इस वर के प्रभाव से श्रीहर्ष की वाणी में ऐसी अलौकिक शक्ति प्रादुर्भूत हुई कि जिस सभा में वे जाते कोई उनकी बात ही न समझ सकता। अतः श्रीहर्ष ने पुनः त्रिपुरा को प्रत्यक्ष करके उनसे प्रार्थना की कि ऐसा कीजिए जिस में सब कोई मेरी बात समझ सकें। इस पर देवी ने कहा—"आधी रात के समय, भीगे सिर, दही खाकर शयन कर। कफांश के उतरने से तेरी बुद्धि में कुछ जड़ता आ जायगी।"

श्रीहर्ष ने ऐसा ही किया। तब से उनकी बातें लोगों की समझ में आने लगीं।

इस प्रकार वर-प्राप्ति के अनन्तर, काशी में राजा जयचन्द्र से श्रीहर्ष मिले। उन्होंने उसे अपनी विद्वत्ता से बहुत प्रसन्न किया। राजा के सम्मुख उपस्थित होने पर श्रीहर्ष ने यह श्लोक पढ़ा—

गोविन्दनन्दनतया च वपुःश्रिया च
माऽस्मिन्नृपे कुरुत कामधियं तरुण्यः।
अस्त्रीकरोति जगतां विजये स्मरः स्त्री—
रस्त्रीजनः पुनरनेन विधीयते स्त्रीः॥

भावार्थ—हे तरुणी गण! गोविन्दनन्दन (गोविन्द चन्द्र का लड़का जयचन्द्र तथा गोविन्द [कृष्ण] का लड़का प्रद्युम्न अर्थात् काम,) तथा अत्यन्त रूपवान् होने के कारण, इस राजा को तुम लोग कहीं काम न समझ लेना। इस जगत् को जीतने में काम स्त्री को अस्त्री (पुरुष तथा अस्त्रधारी) कर देता है, अर्थात् स्त्रियों को अस्त्ररूप करके जगत् जीत लेता है; परन्तु यह राजा अस्त्री (पुरुष तथा अस्त्रधारी) को स्त्री बना देता है। अस्त्रधारी पुरुष, इसके सम्मुख स्त्री-वत् अपने प्राण बचाते हैं। यह श्लोक बहुत ही अच्छा है। इसमें 'गोविन्दनन्दन' और 'अस्त्री' शब्द द्वार्थिक हैं। दान-

पत्रों में गोविन्दचन्द्र के पुत्र का नाम विजयचन्द्र लिखा है। अतएव यह पद्य विजयचन्द्र के लिए श्रीहर्ष ने कहा होगा। सम्भव है, यह "विजयप्रशस्ति" का हो। क्योंकि श्रीहर्ष ने इस नाम का एक ग्रन्थ बनाया है। नैषधचरित के पाँचवें सर्ग के अन्त में श्रीहर्ष ने कहा है—

> तस्य श्रीविजयप्रशस्तिरचनाताातस्य नव्ये महा—
> काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽगमत्पञ्चमः।

जयचन्द्र के आश्रय में रहकर उसके पिता की प्रशस्ति लिखना श्रीहर्ष के लिए स्वाभाविक बात है। राजशेखर ने श्रीहर्ष के डेढ़ दो सौ वर्ष पीछे प्रबन्धकोष लिखा है। अत: नामों में गड़बड़ होना सम्भव है। यह भी सम्भव है कि श्रीहर्ष विजयचन्द्र के समय कान्यकुब्जेश्वर के दरबार में पहले पहल गये हों, और उसके मरने पर जयचन्द्र के आश्रय में रहे हों।

श्रीहर्ष के अपूर्व पाण्डित्य को देख कर उन के पिता का पराजय करने वाले पण्डित ने भी—देव! वादीन्द्र! भारतीसिद्ध! इत्यादि सम्बोधन पूर्वक—श्रीहर्ष के सम्मुख यह स्वीकार किया कि उनके बराबर दूसरा विद्वान् नहीं।

कुछ काल के अनन्तर, जयचन्द्र ने श्रीहर्ष से कहा कि तुम कोई प्रबन्ध लिखो। इस पर श्रीहर्ष ने नैषध-चरित की रचना कर के उसे राजा को दिखाया। राजा

ने उसे बहुत पसन्द किया और श्रीहर्ष से कहा कि तुम काश्मीर जाकर इसे वहाँ की राज-सभा के पण्डितों को दिखा लावो। श्रीहर्ष काश्मीर गये। पर वहाँ उनकी दाल न गली। वहाँ के ईर्ष्यालु पण्डितों ने उनकी एक न सुनी। एक दिन श्रीहर्ष एक देवालय में पूजा कर रहे थे। पास ही तालाब था। इतने में नीच जाति की दो स्त्रियाँ वहाँ पानी भरने आईं। उनमें परस्पर मार-पीट हो गई। खून तक निकला। इसकी फ़रियाद राजा के दरबार में हुई। राजा ने साक्षी माँगी। मार-पीट के समय वहाँ पर श्रीहर्ष के सिवा और कोई न था। अतएव वही गवाह बदे गये। श्रीहर्ष ने, बुलाये जाने पर, कहा कि मैं इन स्त्रियों की भाषा नहीं समझता। पर जो शब्द इन्होंने उस समय कहे थे, मुझे याद हैं। उन शब्दों को श्रीहर्ष ने ज्यों का त्यों कह सुनाया। उनकी ऐसी अद्भुत धारणा-शक्ति देखकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ। उसने इनसे इनका हाल पूछा। इनके पाण्डित्य और कवित्व की उसने परीक्षा भी ली। इनका नैषधचरित भी देखा। फल यह हुआ कि इनका बहुत सत्कार उसने किया और अपनी सभा के ईर्ष्यालु पण्डितों को बहुत धिक्कारा। राजा ने तथा उसके आश्रित पण्डितों ने भी नैषधचरित के सत्काव्य होने का सरटीफिकट श्रीहर्ष को दे दिया।

जिस समय श्रीहर्ष काश्मीर गये उस समय के काश्मीर-नरेश का नाम राजशेखर ने माधवदेव लिखा है। परन्तु राजतरङ्गिणी में इस नाम के राजा का उल्लेख नहीं।

श्रीहर्ष काशी लौट आये और जयचन्द्र से उन्होंने सब हाल कहा। राजा बहुत प्रसन्न हुआ।

वीरधवल नामक राजा के समय में हरिहर नामक पण्डित नैषध की एक प्रति गुजरात को ले गया। उस पुस्तक से राजा वीरधवल के मन्त्री वास्तुपाल ने एक दूसरी प्रति लिखवाई। राजशेखर ने लिखा है कि हरिहर श्रीहर्ष के वंशज थे और वे गौड़ थे। अतः श्रीहर्ष भी गौड़ ही हुए। सम्भव है, इसी से श्रीहर्ष ने गौड़-देश के राजा की प्रशंसा में "गौड़ोर्वीशकुल-प्रशस्ति" नामक ग्रन्थ बनाया हो।

राजशेखर ने लिखा है कि जयचन्द्र की रानी सूहल देवी बड़ी विदुषी थी। वह कलाभारती नाम से प्रसिद्ध थी। श्रीहर्ष भी नरभारती कहलाते थे। यह बात रानी को सहन न होती थी। वह श्रीहर्ष से मत्सर रखती थी और कुचेष्टायें किया करती थी। इसीलिए, खिन्न होकर, गङ्गा तट पर श्रीहर्ष ने सन्यास ले लिया।

श्रीहर्ष ने अपने लिए कान्यकुब्जेश्वर के यहाँ आसन पाना लिखा है और राजशेखर ने (श्रीहर्ष के डेढ़ सौ

सौ वर्ष पीछे) उनको जयचन्द्र का आश्रित बतलाया है। अतः यह बात निर्भ्रम सी है कि श्रीहर्ष जयचन्द्र ही के समय, अर्थात् ईसा की बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, विद्यमान् थे।

अहमदाबाद के निकट धोलका में चाण्डु नाम का एक विद्वान् हो गया है। उसने १२८६ ईसवी में नैषधदीपिका नामक नैषधचरित की टीका बनाई। इस टीका में उसने भी लिखा है कि श्रीहर्ष ने अपने पिता के जीतने वाले उदयनाचार्य्य को शास्त्रार्थ में परास्त किया। इसलिए इस से भी राजशेखर के कथन की पुष्टि होती है। चाण्डु ने अपनी टीका में नैषधचरित को "नवीन काव्य" लिखा है और यह भी लिखा है कि उस समय तक नैषधचरित की विद्याधरी नामक केवल एक ही टीका उपलब्ध थी। पर इस समय इस काव्य की तेईस तक टीकायें देखी गई हैं।

प्रबन्धकोष में लिखा है कि जयचन्द्र के प्रधान मन्त्री ने ११७४ ईसवी में सोमनाथ की यात्रा की। इस यात्रा-वर्णन के पहले ही श्रीहर्ष का काश्मीर जाना वर्णन किया गया है। नैषधचरित लिखने के अनन्तर श्रीहर्ष काश्मीर गये थे। अतः उन्होंने ११७४ ईसवी के कुछ दिन पहले ही नैषध की रचना की होगी।

श्रीहर्ष ने नैषध के प्रति सर्ग के अन्त में अपने माता-

पिता के नाम का पिष्टपेषण किया है; परन्तु किसी सर्ग के अन्त में अपना समय तथा जन्मभूमि और जिस राजा के यहाँ आप रहे उस का नाम आदि लिख देने की कृपा नहीं की। तथापि प्रबन्धकोश के अनुसार यह प्रायः सिद्ध सा है कि वे राजा जयचन्द के आश्रय में थे।

गोविन्द-नन्दनतया—आदि श्लोक से यह भी सूचित होता है कि वे जयचन्द्र के पिता के समय में ही कान्य कुब्ज की राजधानी में पहुँच गये थे।

श्रीहर्ष के ग्रन्थ।

नैषधचरित के अतिरिक्त श्रीहर्ष ने और जो जो ग्रन्थ बनाये हैं उन का नाम उन्होंने नैषध के किसी किसी सर्ग के अन्तिम श्लोकों में दिया है। श्रीहर्ष ही के कथनानुसार उन के ८ ग्रन्थ हैं; यथा—

१ नैषधचरित।	५ विजयप्रशस्ति।
२ गौडोर्व्वीशकुलप्रशस्ति।	६ खण्डनखण्ड-खाद्य।
३ अर्णववर्णन।	७ छन्दःप्रशस्ति।
४ स्थैर्य्यविचार।	८ शिवशक्तिसिद्धि।

९ नवसाहसाङ्कचरित।

इन में से नैषधचरित के विषय में प्रमाण देने की तो कोई आवश्यकता ही नहीं। द्वितीय, तृतीय और नवम ग्रन्थ के विषय में नैषध के श्लोक हम पहले उद्धृत कर चुके हैं। शेष पाँच ग्रन्थों के परिचायक श्लोकार्द्ध नीचे दिये जाते हैं—

(४) तूर्यः स्थैर्य्यविचारणप्रकरणभ्रातर्य्ययं तन्महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः॥

(५) तस्य श्रीविजयप्रशस्तिरचनातातस्य नव्ये महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽगमत्पञ्चमः॥

(६) षष्ठः खण्डनखण्डतोऽपि सहजात् क्षोदक्षमे तन्महा-
काव्येऽयं व्यगलन्नलस्य चरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः॥

(७) यातः सप्तदशः स्वसुः सुसदृशि छन्दःप्रशस्तेर्महा-
काव्ये तद्भुवि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः॥

(८) यातोऽस्मिन् शिवशक्तिसिद्धिभगिनीसौभ्रात्रभव्ये महा-
काव्ये तस्य कृतौ नलीयचरिते सर्गोऽयमष्टादशः॥

नैषधचरित और खण्डनखण्ड-खाद्य, श्रीहर्ष के ये ही दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं। खण्डनखण्ड-खाद्य श्रीहर्ष के अगाध पाण्डित्य और नैषधचरित उनके अप्रतिम कवित्व का द्योतक है। खण्डनखण्ड-खाद्य (खण्डनरूपी खण्ड-शर्करा का भोजन) में अन्यान्य मतों का अद्भुत रीति से

खण्डन करके एक मात्र वेदान्त मत का मण्डन किया गया है। स्थैर्य्यविचार में, नहीं कह सकते, क्या है; परन्तु अन्यान्य ग्रन्थों के नाम ही से उनके विषय का बहुत कुछ अनुमान हो सकता है। गौडोर्व्वीशकुलप्रशस्ति में गौड़ेश्वर की प्रशंसा; विजय-प्रशस्ति में विजय नामक राजा की प्रशंसा; और छन्द:प्रशस्ति में छन्द नामक राजा की प्रशंसा होगी। विजयप्रशस्ति के विषय में तो टीकाकार मल्लिनाथ कुछ नहीं कहते; परन्तु छन्द:प्रशस्ति के विषय में स्पष्ट कहते हैं कि वह छन्द नामक राजा की स्तुति है। छन्द कहाँ का राजा था, इसका पता नहीं लगता। विजय से मतलब विजयचन्द्र से जान पड़ता है। वह महाराज जयचन्द का पिता था। अर्णववर्णन में समुद्र-वर्णन और नवसाहसाङ्कचरित में साहसाङ्क राजा का वर्णन होगा, इस में सन्देह नहीं। शिवशक्तिसिद्धि में शाक्त अथवा शैव मत की कोई बात अवश्य होगी। यदि यह ग्रन्थ शाक्त-मतानुयायी है, जैसा कि इस के नाम से विदित होता है, तो इस को लिखने से श्रीहर्ष का शाक्तमत की ओर अनुराग होना सूचित होता है।

चिन्तामणि-मन्त्र की सिद्धि।

सुनते हैं, श्रीहर्ष जी परम मातृभक्त थे। अपनी माता को वे देवी के समान समझते थे। नैषधचरित के बारहवें सर्ग के इस—

तस्य द्वादश एष मातृचरणाम्भोजालिमौलेर्महा-
काव्येऽयं व्यगलन्नलस्य चरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः॥

अन्तिम श्लोकार्द्ध में श्रीहर्ष जी अपनी माता के चरण-कमल में, मधुप के समान अपना मस्तक रखना स्वयं भी स्वीकार करते हैं। किसी किसी का कथन है कि माता ही के उपदेश से इन्होंने "चिन्तामणिमन्त्र" सिद्ध करके अद्भुत कवित्व शक्ति प्राप्त की थी। नैषध के प्रथम सर्ग का अन्तिम श्लोक, जो हम पहले एक स्थल में लिख आये हैं, उस में श्रीहर्ष ने अपने ही मुख से यह कहा है कि चिन्तामणि-मन्त्र ही के प्रभाव से वे यह काव्य लिखने में समर्थ हुए हैं। पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने भी एक प्रबन्ध में लिखा है कि, लोग कहते हैं, श्रीहर्ष ने देवाराधना करके अप्रतिम कवित्व-शक्ति पाई थी। चिन्ता-मणि-मन्त्र का स्वरूप और उस का फल श्रीहर्ष जी ने नैषधचरित में विशेषरूप से दिया भी है। देखिए—

अवामा वामार्द्धे सकलमुभयाकारघटनात्
  द्विधाभूतं रूपं भगवदभिधेयं भवति यत्।
तदन्तर्मन्त्रं मे स्मर हरमयं सेन्दुममलं
  निराकारं शश्वज्जप नरपते ! सिध्यतु स ते ॥

सर्ग १४, श्लोक ८५

इस श्लोक से प्रथम मन्त्रमूर्ति भगवान् अर्द्धनारीश्वर की उपासना का अर्थ निकलता है; फिर, ह्रल्लेखात्मक चिन्तामणिमन्त्र सिद्ध होता है; तदनन्तर चिन्तामणि-मन्त्र के यन्त्र का स्वरूप भी इसी से व्यक्त होता है। चिन्तामणि-मन्त्र का रूप यह है—

ॐ ह्रीं ॐ

"द्विधाभूतं रूपं भगवदभिधेयं",—से यन्त्र का आकार सूचित किया गया है। भगवत् दो त्रिकोणाकृतियों का मेल ही यन्त्र है; यथा—
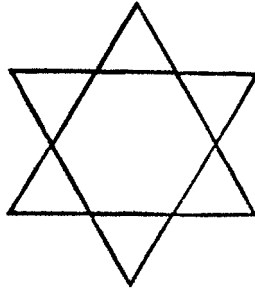
इसी के भीतर चिन्तामणिमन्त्र लिखा जाता है।

पारमेश्वर, मन्त्रमहोदधि, शारदातिलक आदि तन्त्रों में इस की साधना का सविस्तर वर्णन है। चिन्तामणि-मन्त्र का फल सरस्वती के मुख से श्रीहर्ष जी ने इस प्रकार कहाया है—

सर्वांगीणरसामृतस्तिमितया वाचा स वाचस्पतिः
स स्वर्गीयमृगीदृशामपि वशीकाराय मारायते।
यस्मै यः स्पृहयत्यनेन स तदेवाप्नोति, किं भूयसा ?
येनायं हृदये कृतः सुकृतिना मन्मन्त्रचिन्तामणिः॥

सर्ग १४, श्लोक ८६

भावार्थ—जो पुण्यवान पुरुष मेरे इस चिन्तामणि-मन्त्र को हृदय में धारण करता है वह शृङ्गारादि समस्त रसों से परिप्लुत, अत्यन्त सरस, वाग्वैदग्ध्य को प्राप्त कर के बृहस्पति के समान विद्वान् हो जाता है; वह स्वर्गीय सुन्दरी-जनों को भी वश करने के लिए कामवत् सौन्दर्यवान् दिखाई देने लगता है। अधिक कहने की कोई आवश्यकता नहीं; जिस वस्तु की जिस समय वह इच्छा करता है उस के मिलने में किञ्चिन्मात्र भी देरी नहीं लगती।

इसी के आगे जो दूसरा श्लोक है वह भी देखिए—

पुष्पैरभ्यर्च्य गन्धादिभिरपि सुभगैश्चारुहंसेन मां चे-
न्निर्यान्तीं मन्त्रमूर्तिं जपति मयि मतिं न्यस्य मय्येव भक्तः।

सम्प्राप्ते वत्सरान्ते शिरसि करमसौ यस्य कस्यापि धत्ते
सोऽपि श्लोकानकाण्डे रचयति रुचिरान् कौतुकं दृश्यमस्य॥

सर्ग १४, श्लोक ८७

भावार्थ—सुन्दर हंस के ऊपर गमन करने वाली मन्त्रमूर्ति मेरा पूजन, उत्तमोत्तम पुष्प-गन्धादि से, कर के और अच्छी तरह मुझ में मन लगा कर जो मनुष्य मेरे मन्त्र का जप करता है उस की तो कोई बात ही नहीं; एक वर्ष के अनन्तर वह और जिस किसी के ऊपर अपना हाथ रख देता है वह भी सहसा सैकड़ों हृदयहारी श्लोक बनाने लगता है। मेरे इस मन्त्र का कौतुक देखने योग्य है।

चतुर्दश सर्ग में नल को सरस्वती ने जिस समय वर-प्रदान किया है उस समय के ये तीनों श्लोक हैं। श्री-हर्ष ने सरस्वती के मुख से ही ये श्लोक कहलाये हैं।

इस मन्त्र की साधना से सचमुच ही इतनी सिद्धि प्राप्त होती है, इस के उदाहरण वर्तमान समय में तो सुनने में नहीं आये। पर श्रीहर्ष की बात पर सहसा अवि-श्वास करने को भी जी नहीं चाहता। हम एक ऐसे आदमी को जानते हैं जिस की जीभ पर, जात-कर्म-सं-स्कार के समय, सरस्वती का पूर्वोक्त मन्त्र (ॐ ह्रीं ॐ) लिख दिया गया था। यह मनुष्य कुछ पढ़ लिख भी

गया और कुछ कीर्ति-सम्पादन भी उसने किया। पर यह इसी मन्त्र का प्रभाव था या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। सम्भव है, यथाशास्त्र और यथारीति इस की उपासना करने से विशेष फल होता हो।

परन्तु, आश्चर्य्य है, इसी चिन्तामणिमन्त्र की उपासना करने पर भी हमारे एक मित्र को कुछ भी लाभ न हुआ। वे ग्वालियर में रहते हैं और रामानुज-सम्प्रदाय के वैष्णव हैं। आप बड़े पण्डित और बड़े तान्त्रिक हैं।

आज कल का शिक्षित-समुदाय यन्त्र-मन्त्र की बातों को कुटिल दृष्टि से देखता है और पुरानी प्रथा के पण्डित यन्त्र-मन्त्रों की समालोचना करना बुरा समझते हैं। तथापि हमको यहाँ पर प्रसङ्गवशात् इस विषय में कुछ लिखना ही पड़ा। अतः हम दोनों प्रकार के विद्वानों से क्षमा माँगते हैं।

श्रीहर्ष की गर्वोक्तियाँ।

श्रीहर्ष को अपनी विद्वत्ता और कविता का अतिशय गर्व था। उनकी कई एक दर्पोक्तियाँ हम ऊपर

लिख भी चुके हैं। नैषध के अन्तिम श्लोक में आप अपने विषय में क्या कहते हैं सो सुनिए—

ताम्बूलद्वयमासनञ्च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्
यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्मप्रमोदार्णवम्।
यत्काव्यं मधुवर्षि धर्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तयः
श्रीश्रीहर्षकवेः कृतिः कृतिमुदे तस्याभ्युदीयादियम्।

सर्ग २२, श्लोक १५५

अर्थात्—कान्यकुब्जनरेश के यहाँ जिसे दो पान—और पान ही नहीं, किन्तु आसन भी जिसे मिलता है; समाधिस्थ होकर जो अनिर्वचनीय ब्रह्मानन्द का साक्षात्कार करता है; जिसका काव्य शहद के समान मीठा होता है; जिसकी तर्कशास्त्र-सम्बन्धिनी उक्तियों को सुनकर प्रतिपक्षी तार्किक परास्त होकर कोसों भागते हैं—उस श्रीहर्ष नामक कवि की यह कृति (नैषधचरित) पुण्यवान् पुरुषों को प्रमोद देने वाली हो।

देखा, आप पण्डित जगन्नाथराय से भी बढ़कर निकले। जगन्नाथराय ने कहा है कि सुमेरु से लेकर कन्याकुमारी तक मेरे बराबर अच्छी कविता करने वाला दूसरा नहीं है। परन्तु श्रीहर्ष केवल कविता ही से अमृत नहीं बरसाते, किन्तु सारे शास्त्रों में अपने धुरीणत्व का उल्लेख करते हैं। इनके खण्डन-

खण्डखाद्य और नैषधचरित से, टीकाकार नारायण पण्डित के कथनानुसार, इनका "विद्वच्चक्रचूडामणि" होना सिद्ध है, यह हम मानते हैं। परन्तु क्या मुख से कहने ही से पाण्डित्य प्रकट होता है? कालिदास ने रघुवंश में लिखा है—

मन्दः कवियशः प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः॥

इस शालीनता-सूचक पद्य से क्या उन्होंने अपना पाण्डित्य कम कर दिया? कदापि नहीं। इस प्रकार नम्रताव्यञ्जक वाक्य कहने से विद्या को और भी विशेष शोभा होती है। किसी ने कहा है—

शीलभारवती विद्या भजते कामपि श्रियम्।

परन्तु कुछ कवियों और पण्डितों ने अपनी प्रशंसा अपने ही मुँह से करने में ज़रा भी सङ्कोच नहीं किया। भारत-चम्पू के बनाने वाले अनन्त नामक कवि ने—

दिगन्तरलुठत्कीर्तिरनन्तकविकुञ्जरः।

इत्यादि वाक्य कहकर अपने को अपने ही मुख से कविकुञ्जर ठहराया है। श्रीहर्ष की बात तो कुछ पूछिए ही नहीं। अपनी कविता के विषय में "महाकाव्य", "निसर्गोज्ज्वल", "चारु", "नव्य", "अतिनव्य", इत्यादि

पद-प्रयोग कर देना तो उनके लिए साधारण बात है। उन्होंने तो काश्मीर तक के पण्डितों से नैषध की पूजा की जाने का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त कई सर्गों के अन्त में आपने अपने कवित्व की और भी मन-मानी प्रशंसा की है। देखिए—

तर्केष्वप्यसमश्रमस्य दशमस्तस्य व्यरंसीन्महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः।

अर्थात् जिसने केवल कविता ही में नहीं, किन्तु तर्कशास्त्र में भी बड़ा परिश्रम किया है उसके नैषधचरित का दसवाँ सर्ग समाप्त हुआ। आगे चलिए—

शृंगारामृतशीतगावयमगादेकादशस्तन्महा-
काव्येऽस्मिन् निषधेश्वरस्य चरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः।

अर्थात् शृङ्गाररूपी अमृत से उत्पन्न हुए चन्द्रमा के समान उज्ज्वल और आह्लादकारक, मेरे नैषधचरित के एकादश सर्ग का अन्त हुआ। और लीजिए—

स्वादूत्पादभृति त्रयोदशतयाऽऽदेश्यस्तदीये महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः।

अर्थात् अतिशय स्वादिष्ट अर्थों को उत्पन्न करनेवाले, नैषधचरित के त्रयोदश सर्ग की समाप्ति हुई। और—

यातस्तस्य चतुर्दशः शरदिजज्योत्स्नाच्छसूक्तेर्महा—
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः।

अर्थात् शरत्कालीन चन्द्रमा की चन्द्रिका के समान उज्ज्वल उक्तियाँ जिस में हैं ऐसे नैषधचरित का चतुर्दश सर्ग समाप्त हो गया। और भी—

यातःपञ्चदशः कृशेतररसास्वादाविहार्यं महा—
काव्ये तस्य हि वैरसेनिचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः।

अर्थात् अत्यन्त सरस और अत्यन्त स्वादिष्ट नैषधचरित का पन्द्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ। और भी सुनिए—

एकां न त्यजतो नवार्थघटनामेकाम्नविंशो महा—
काव्ये तस्य कृतौ नलीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः।

अर्थात् जिस ने एक भी नवीनार्थ-घटना को नहीं छोड़ा उस के किये हुए नलचरित का उन्नीसवाँ सर्ग समाप्ति को पहुँचा। बस, एक और—

अन्यासुण्णरसप्रमेयभणितौ विंशस्तदीये महा—
काव्येऽयं व्यगलन्नलस्य चरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः।

अर्थात् जिन रसमयी उक्तियों का आज तक और किसी ने व्यवहार नहीं किया वे जिस में समाविष्ट हैं, ऐसे नैषधचरित का बीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

कहिए क्या इस से भी अधिक आत्मश्लाघा हो सकती

है ? आत्मश्लाघा की मात्रा इन्होंने बहुत ही बढ़ा दी है। नैषध की परिसमाप्ति में आपने अपने को अमृतादि चौदह रत्न उत्पन्न करने वाला क्षीरसागर बनाया है; और शेष सब कवियों को दोही चार दिन में सूख जाने वाली नदियों को उत्पन्न करनेवाले पहाड़ी पत्थर! श्रीहर्ष का जब यह हाल है तब पण्डित अम्बिकादत्त व्यास अपने "बिहारी-बिहार" में स्वप्रशंसात्मक यदि दो एक बातें किसी मिष कह दें तो विशेष आक्षेप की बात नहीं। श्रीहर्ष का पाण्डित्य और कवित्व निःसंशय प्रशंसनीय है। परन्तु इन्होंने अपने विषय में जितनी गर्वोक्तियां कही हैं उतनी, जहां तक हम जानते हैं, दो एक को छोड़ कर और किसी ने नहीं कहीं।

नैषधचरित का कथानक।

नैषधचरित में नल और दमयन्ती की कथा है, इस बात को प्रायः सभी जानते हैं। तथापि किसी किसी को यह समझ है कि इस काव्य में दमयन्ती का वन में परित्याग भी वर्णन किया गया है। यह केवल भ्रम है। परित्याग-विषयक कोई बात इस में नहीं। उस विषय

के कवित्व का जिसे स्वाद लेना हो उसे सहृदयानन्द नामक काव्य देखना चाहिए। नैषध की कथा संक्षेपत: इस प्रकार है—

विदर्भ-देश के राजा भीम के एक कन्या थी। उस का नाम था दमयन्ती। अपने पिता को देश-देशान्तर के समाचार सुनाने वाले ब्राह्मणों के मुख से राजा नल की प्रशंसा सुन कर वह उस में अनुरक्त हो गई। इधर लोगों से दमयन्ती का अप्रतिम सौन्दर्य सुन कर राजा नल को भी, उस की प्राप्ति की अभिलाषा हुई। दमयन्ती में नल की आसक्ति इतनी बढ़ी और उसे दिन पर दिन इतनी व्याकुलता होने लगी कि राजकार्य में विघ्न पड़ने लगा। अत: "आराम-विहार" के बहाने राजा नल कुछ काल के लिए बाहर चले गये। वहाँ उपवन में, एक तड़ाग के किनारे, एक सुवर्णमय हंस को उन्होंने देखा। इस लोकोत्तर हंस को राजा ने कुतूहलाक्रान्त होकर पकड़ लिया। पकड़ लेने पर हंस ने अतिशय विलाप किया और राजा से ऐसी ऐसी कारुणिक बातें कहीं कि उस ने दयार्द्र होकर हंस को छोड़ दिया। छोड़े जाने के अनन्तर इस उपकार का प्रत्युपकार करने के लिए हंस ने दमयन्ती के पास जाकर दूतत्व करना और उस में नल का और भी अधिक प्रेम जाग्रत करके नल को दमयन्ती की प्राप्ति होने में सहायता करना

स्वीकार किया। हंस ने ऐसा ही किया। विदर्भ-देश को जाकर, वहाँ दमयन्ती से नल का वृत्तान्त कहकर, उस को हंस ने इतना उत्कण्ठित किया कि नल को बिना देखे ही दमयन्ती को इतनी विरहवेदना होने लगी कि उस वेदना से व्यथित होकर उस ने चन्द्रमा और काम को हज़ारों गालियाँ सुनाईं। फिर अनेक प्रलाप करते करते वह मूर्च्छित हो गई। सुता की मूर्छा का वृत्तान्त जानने पर उस के पिता राजा भीम उस के पास दौड़े आये और अनुमान से सब बातें जान कर शीघ्र ही उस के स्वयंवर का प्रबन्ध करना उन्होंने निश्चित किया। इतनी कथा ४ सर्गों में वर्णन की गई है।

दमयन्ती के सौन्दर्य्यादि का वर्णन नारद ने इन्द्र से जाकर किया और उस के स्वयंवर का समाचार भी सुनाया। इस बात को सुन कर इन्द्र, वरुण, यम और अग्नि इन चारों देवताओं के हृदयों में दमयन्ती की प्राप्ति की अतिशय उत्कण्ठा उत्पन्न हुई। दमयन्ती को पाने की अभिलाषा से उधर से ये चारों स्वयंवर देखने के लिए चले; इधर से नल ने भी इसी निमित्त प्रस्थान किया। मार्ग में इन की परस्पर भेंट हुई। देवताओं को यह विदित हो था कि दमयन्ती नल को चाहती है। अतएव वे यह अच्छी तरह जानते थे कि नल के स्वयंवर में उपस्थित रहते दमयन्ती उन्हें न

दापि नहीं मिल सकती। इसलिए इन देवताओं ने चतुराई करके नल को अपना दूत बनाकर दमयन्ती के पास भेजना चाहा। नल यद्यपि दमयन्ती को स्वयं भी मनसा वाचा कर्मणा चाहते थे, तथापि देवताओं की इच्छा के प्रतिकूल उन्होंने कोई बात करनी उचित न समझी। उन की प्रार्थना को नल ने स्वीकार कर लिया। देवताओं ने नल को अदृश्य होने की एक ऐसी विद्या पढ़ा दी जिस के प्रभाव से वे दमयन्ती के अन्तः-पुर तक अदृष्ट प्रवेश कर गये। वहाँ इन्द्र की भेजी हुई दूती के दूतत्व कर के चले जाने पर नल ने बड़े चातुर्य से अनेक प्रकार से देवताओं की प्रशंसा करके दमयन्ती का प्रलोभन किया। उन्होंने भय भी दिखाया। परन्तु नल को छोड़ कर अन्य के साथ विवाह करना दमयन्ती ने स्वीकार न किया। नल की प्राप्ति न होने से उलटा प्राण दे देने का प्रण उस ने किया। तदनन्तर नल ने अपने को प्रकट किये बिना ही दमयन्ती को समझाया कि देवताओं की इच्छा के विरुद्ध उस का विवाह नल से किसी तरह सम्भव नहीं। इस को दमयन्ती ने सत्य माना और नल की प्राप्ति से निराश होकर ऐसा हृदयद्रावक विलाप करना आरम्भ किया कि नल के होश उड़ गये। वे अपना दूतत्व भूल गये और प्रत्यक्ष नलभाव को प्रकाशित करके स्वयं विलाप

करने लगी। इस पर दमयन्ती ने नल को पहचाना। देवताओं को भी इस की यथार्थता विदित हो गई। परन्तु अप्रसन्न होना तो दूर रहा, राजा की दृढ़ता और स्थिरप्रतिज्ञता को देखकर वे चारों दिक्पाल उलटा उस पर बहुत सन्तुष्ट हुए। यहां तक की कथा नैषधचरित के नौ सर्गों में वर्णन की गई है।

दशम से प्रारम्भ करके चतुर्दश सर्ग तक दमयन्ती के स्वयंवर का वर्णन है। दमयन्ती के पिता राजा भीम की प्रार्थना पर उस के कुलदेवता विष्णु ने सरस्वती को राजाओं का वंश, यश, इत्यादि वर्णन करने के लिए भेजा। सरस्वती ने अद्भुत वर्णन किया। जितने देवता, जितने लोकपाल, जितने द्वीपाधिपति और जितने राजा स्वयंवर में आये थे, सरस्वती ने उन सब की पृथक् पृथक् नामादिनिर्देशपूर्वक प्रशंसा की। इस स्वयंवर में उन चार—इन्द्र,वरुण,यम और अग्नि—देवताओं ने दमयन्ती को छलने के लिए एक माया रची। उन्होंने नल ही का रूप धारण किया और जहाँ नल बैठे थे वहीं आकर वे भी बैठ गये। अतएव एक स्थान पर एक ही रूप वाले पांच नल हो गये। इन पांच नलों की कथा जिस सर्ग (तेरहवें) में है उस को पण्डित लोग पञ्चनली कहते हैं। श्रीहर्ष ने इस पञ्चनली का वर्णन सरस्वती के मुख से बड़ा ही अद्भुत कराया है। उन्होंने अपूर्व श्लेषचातुरी

इस वर्णन में व्यक्त की है। प्राय: पूरा सर्ग का सर्ग श्लेष-मय है। प्रति श्लोक से एक एक देवता का भी अर्थ निकलता है और नल का भी। इस वर्णन-वैचित्र्य को सुन कर और पाँच पुरुषों का एक ही रूप देख कर दमयन्ती यह न पहचान सकी कि इन में यथार्थ नल कौन है। इस से वह अतिशय विषण्ण हुई और अन्त में उस ने उन्हीं देवताओं का नाम ले लेकर स्तवन इत्यादि किया। दमयन्ती की इस भक्ति-भावना से वे देवता प्रसन्न हो गये। उन के प्रसन्न होने से दमयन्ती की बुद्धि भी विशद हो गई और उसे वे चार श्लोक स्मरण हुए जिन को सरस्वती ने यथार्थ नल के सम्मुख कहा था। इन चार श्लोकों में नल का भी वर्णन है और एक एक में क्रम क्रम से उन चार दिक्पालों का भी है। वे चारों दिक्पाल चार दिशा के स्वामी हैं और नल, राजा होने के कारण, सभी दिशाओं का स्वामी है। अतएव दमयन्ती ने जान लिया कि वह परमार्थ नल ही का वर्णन था। दिक्पालों का अर्थ, जो ध्वनित होता था, गौण था। समासोक्ति आदि अलङ्कारों में प्रकृत वस्तु के अतिरिक्त अप्रकृत का भी अर्थ गर्भित रहता है। परन्तु वह केवल कवि का कवित्व-कौशल है; उस में तथ्य नहीं। नल-विषयक इतना निश्चय हो जाने पर दम-यन्ती को और भी कई बातें उस समय देख पड़ीं, जो

देवता और मनुष्य के भेद की सूचक थीं। यथा—नल-रूपी देवताओं के नेत्र निर्निमेष थे, परन्तु नल के नहीं; नलरूपी देवताओं के कण्ठ की माला म्लान न थी, परन्तु नल के कण्ठ की माला म्लान थी। नलरूपी देवताओं के शरीर की छाया न देख पड़ती थी, परन्तु नल के शरीर की छाया देख पड़ती थी। इन चिन्हों से दमयन्ती ने नल को पहचान कर वरणमाल्य उसी के कण्ठ में डाल दिया। यह देखकर देवता लोग बहुत प्रसन्न हुए और नल को प्रत्येक ने भिन्न भिन्न वर-प्रदान किया।

पन्द्रहवें सर्ग में दमयन्ती का शृङ्गारादि वर्णन है। सोलहवें में विवाह-विधि, भोजन तथा तत्कालोचित स्त्री-जनों की बातचीत है। सत्रहवें सर्ग में देवताओं का प्रत्यागमन, मार्ग में कलि से सम्मिलन, परस्पर में कलह, दमयन्ती की प्राप्ति का हाल सुन कर नल से कलि का विद्वेष, देवताओं का उस को समझाना, इत्यादि है। अठारहवें सर्ग में नल और दमयन्ती का विहार-वर्णन है। उन्नीसवें में प्रभातवर्णन, बीसवें में नल और दम-यन्ती का हास्यविनोद, इक्कीसवें में नलकृत ईश्वरार्चन और स्तवन इत्यादि, और अन्तिम बाईसवें सर्ग में साय-ङ्काल-वर्णन है।

नैषधचरित का पद्यात्मक अनुवाद

शिवसिंहसरोज में हम ने पढ़ा था कि सं० १८०५ में गुमानी मिश्र ने नैषधचरित का अनुवाद, काव्यकलानिधि नाम से, किया है। हर्ष की बात है कि यह ग्रन्थ बम्बई में प्रकाशित भी हो गया है। इस अनुवाद का विज्ञापन प्रकाशित हुए सत्रह अठारह वर्ष हुए। उसके अधिकांश की नक़ल हम नीचे देते हैं—

नैषधकाव्य।

"नैषध (निषध ?) देश के राजा भीमसेन की कन्या पतिप्राणा पतिव्रता सती आदर्शिनी रानी दमयन्ती और द्यूतचतुर स्थिरप्रतिज्ञ राजा नल का पौराणिक आख्यान है। एक सती स्त्री विपत्ति पड़ने पर कैसे अपने पति की सेवा करती है। महा आपत काल में विपदग्रस्त पति को छोड़ कर स्त्री कैसे अलग न होकर अपना धर्म्म रखती और किस प्रकार अपना दिन काटती है। विपत्ति पड़ने पर एक धीर पुरुष कैसे धैर्य रखता है और अपना धर्म्म निबाहता है। फिर विपत्ति कटने पर सुख के दिन आते हैं तो सज्जन पुरुष किस गम्भीरता से अपना सर्व्वस्व संभालते हैं, इत्यादि इन

बातों का वर्णन तेईस सर्ग में उत्तमोत्तम छन्दोबद्ध काव्य में लिखा गया है।"

वाह साहब! खूब ही नैषध की कथा का सार खींचा है। हम ने स्वयं इस अनुवाद को नहीं देखा *; परन्तु यदि यह नैषधचरित का अनुवाद है तो इस में वह कथा कदापि नहीं हो सकती जिस का उल्लेख ऊपर दिये हुए विज्ञापन में किया गया है। यदि यह और किसी नैषध के अनुवाद का विज्ञापन है तो हम नहीं कह सकते। शिवसिंहसरोज में अनुवाद के दो एक नमूने भी दिये हैं। उन को देखने से तो वह प्रसिद्ध नैषधचरित ही का भाषान्तर जान पड़ता है। फिर हम नहीं कह सकते कि अनुवाद में तेईस सर्ग कहाँ से कूद पड़े; मूल में तो केवल बाईस ही हैं। श्रीहर्ष ने नैषधचरित में नल और दमयन्ती के विपत्तिग्रस्त होने की चर्चा भूल कर भी नहीं की। नहीं जानते, गुमानी कवि ने उस कथा को अपने अनुवाद में कहाँ से लाकर प्रविष्ट कर दिया।

गुमानी-मिश्र-कृत नैषधचरित के अनुवाद को प्रकाशित हुआ सुन कर हमें उसे देखने की उत्कण्ठा हुई। अतएव हम ने शिवसिंहसरोज में उद्धृत किये

---

*इसे हमने अब पढ़ लिया है। यह नैषधचरित ही का टूटा फूटा अनुवाद है।

हुए नैषध के दो श्लोकों का अनुवाद देखा। देखने पर हताश होकर गुमानी जी के ग्रन्थ को मँगाने से हमें विरत होना पड़ा। नैषधचरित के प्रथम सर्ग में एक श्लोक है, जिस में राजा नल की लोकोत्तर दान-शीलता का वर्णन है। वह श्लोक यह है—

विभज्य मेरुर्न यदर्थिसात्कृतो-
  न सिन्धुरुत्सर्गजलव्ययैर्मरुः।
अमानि तत्तेन निजायशोयुगं
  द्विफालबद्धाश्चिकुराः शिरःस्थितम्॥ सर्ग१, श्लोक१६

इसका अनुवाद गुमानी जी ने किया है—

कवितानि सुमेरु न बाँटि दियो
  जलदानन सिंधु न सोकि लियो।
दुहुँ ओर बँधो जुलफैं सुमलो
  नृप मानत औयश की अवली॥

हमको विश्वास है, इस अनुवाद के आशय को थोड़े ही लोग समझ सकेंगे। "कवितानि", और "औयश" से यहाँ क्या अर्थ है, सो बिना मूल ग्रन्थ देखे ठीक-ठीक नहीं समझ पड़ता। "औयश" से अभिप्राय अपयश या अयश से है और "कवितानि" से अभिप्राय "कवियों" से है। श्लोक का भावार्थ यह है—

राजा नल सारे सुमेरु को काट काट कर याचकों को नहीं दे सका; और, दान के समय, सङ्कल्प के लिए समुद्र से जल ले ले कर उसे मरुस्थल नहीं बना सका। अतएव अपने सिर पर, दोनों ओर, दो भागों में विभक्त केश-कलाप को उसने अपने दो अपयशों के समान माना।

यह भाव गुमानीजी के अनुवाद को पढ़कर मन में सहजही उद्भूत होता है अथवा नहीं, इसके विचार का भार हम पाठकों ही पर छोड़ते हैं।

नैषध के प्रथम सर्ग के एक और श्लोक का भी अनुवाद शिवसिंहरोज में दिया हुआ है। वह श्लोक यह है—

> सितांशुवर्णैर्वयतिस्म तद्गुणै-
>
> र्म्महासिवेम्नः सहकृत्वरी बहुम्।
>
> दिगंगनांगाभरणं रणांगणे
>
> यशःपटं तद्भटचातुरीतुरी॥
>
> स० १, श्लो० १२

भावार्थ—राजा नल के चन्द्रवत् शुभ्रगुणों (१) से, कृपाण-रूपी वेमा (२) के सहारे, रणक्षेत्र में उसके सुभटों की

---

(१) सूत्र को भी गुण कहते हैं।

(२) वेमा, कपड़ा बुनने में काम आता है—एक प्रकार का दण्ड।

चातुरीरूपी तुरी (३) ने, दिगङ्गनाओं के पहनने के लिए, सैकड़ों गज़ लम्बा यशोरूपी वस्त्र बुन डाला। दिग्विजयी होने से राजा नल का यश सर्वत्र फैल गया, यह भाव।

इस अर्थ को भाषान्तरित करने के लिए गुमानी मिश्र ने यह कवित्त लिखा है—

संगर धरावैं जाके रंग सो सुभट निज
चातुरी तुरी सौं जस पटानि बुनतु है।
करि करिबाल बेम जोरि जोरि कोरि कोरि
चन्द्र ते विशद जाके गुननि गुनतु है।
अमल अमोल ओल डोल झलझल होत
कबहुँ घटै न जन देवता सुनतु है।
आठौ दिशि रानी राजधानी के श्रृंगारिबे को
आठै दिगराज जानि चीरानि चुनतु है।

श्लोक का भावार्थ पहले समझे बिना इस कवित्त का आशय जानने के लिए गुमानीही जी की सहायता आवश्यक है। उसके बिना श्रीहर्ष का अभिप्राय अधिगत करने में बहुत कम लोग समर्थ हो सकते हैं।

---

(३) तुरी, कड़े बालों की बनी हुई ब्रश के समान एक वस्तु है। उस का उपयोग जुलाहे लोग कपड़ा बुनने के समय करते हैं।

अनुवाद के सहारे संस्कृत-पद्य का भाव समझ में आजाना तो दूर रहा, उसे देखकर उलटा व्यामोह उत्पन्न होता है; वह समझ में नहीं आता। न यही समझ पड़े न वही—ऐसी दशा होती है। जिस समय की यह हिन्दी है उस समय "कोरि कोरि जोरि जोरि" और "अमल अमोल ओल डोल झलझल" इत्यादि शब्द-झङ्कार से लोगों को प्रमोद प्राप्त होता होगा; परन्तु इस समय उसकी प्राप्ति कम सम्भव प्रतीत होती है। एक श्लोक का अनुवाद गुमानी जी ने अतिलघु तोटक-वृत्त में किया और दूसरे का गज़ों लम्बे कवित्त में। दोनों श्लोक पास ही पास के हैं। जान पड़ता है, छन्द के मेल का विचार उन्हों ने कुछ भी नहीं किया।

शिवसिंहसरोज वाले ठाकुर साहब के अनुसार गुमानी जी ने "पञ्चनली जो नैषध में एक कठिन स्थान है उसको भी सलिल कर दिया"। "सलिल कर दिया"! पञ्चनली का पानी हो गया! अनुवाद देखने से तो यह बात सिद्ध नहीं होती। उसमें तो नैषधचरित के भावों की बड़ी ही दुर्दशा हुई है। एकही चावल के टटोलने से देगची का पूरा हाल विदित हो जाता है। अतएव बिना पूरा अनुवाद देखेही, पूर्वोक्त दो उदाहरणों से ही, पाठक उसकी योग्यता का हाल जान जायँगे।

श्रीहर्ष की कविता।

श्रीहर्ष को अद्भुत कवित्व शक्ति प्राप्त थी; इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु उन्हों ने नैषधचरित में अपनी सहृदयता का विशेष परिचय नहीं दिया। उनका काव्य आदि से लेकर अन्त तक विलक्षण अत्युक्तियों और दुरूह कल्पनाओं से जटिल हो रहा है। जिस स्थल में, जिसके विषय में, जिस जिस क्लिष्ट कल्पना का उन्होंने प्रयोग किया है, उस स्थल में, उस उस कल्पना का मन में उत्थान होना कभी कभी असम्भव सा जान पड़ता है। फिर, आपकी कविता ऐसी टेढ़ी मेढ़ी है कि उसका भाव सहजही ध्यान में नहीं आता। कहीं कहीं तो आपके पद्यों का अर्थ बहुतही दुर्बोध्य (१) है। हमारा

(१) देखिए, दमयन्ती से राजा नल अन्धकार का वर्णन करते हैं—

ध्वान्तस्य वामोरु! विचारणायां
वैशेषिकं चारु मतं मतं मे।
औलूकमाहुः खलु दर्शनं तत्
क्षमं तमस्तत्वनिरूपणाय॥ सर्ग २२, श्लोक ३६

इसकी टीका नारायण पण्डित ने कोई दो पृष्ठों में की है। जो "वैशेषिक दर्शन" के कर्त्ता के नामादि से परिचित हो वही अच्छी तरह इस के आशय को समझ सकता है।

यह अभिप्राय नहीं कि इन कारणों से श्रीहर्ष जी का काव्य हेय हो गया है। नहीं, इन दोषों के रहते भी, वह अनेक स्थलों में इतना रम्य और इतना मनोहर है कि किसी किसी पद्य का अनेक बार मनन करने पर भी फिर फिर उसे पढ़ने की इच्छा बनीही रहती है। कोई कोई स्थल तो इतने कारुणिक हैं कि वहाँ पर पाषाण के भी द्रवीभूत होने की सम्भावना है। तथापि, फिर भी यही कहना पड़ता है कि इनकी कविता में विशेष सारल्य नहीं। कहीं कहीं, किसी किसी स्थल में, सरलता हुई भी तो क्या? सौ में दो चार श्लोकों का काठिन्य-वर्जित होना, होना नहीं कहा जा सकता। श्रीहर्ष जी को अपनी विद्वत्ता प्रकट करने को जहाँ कहीं थोड़ी भी सन्धि मिली है वहाँ उन्होंने उसे हाथ से नहीं जाने दिया; यत्र तत्र न्याय, सांख्य, योग और व्याकरण आदि तक के तत्त्व भर दिये हैं।

अतिशयोक्ति कहने में श्रीहर्ष का पहला नम्बर है। इस विषय में कोई भी अन्य प्राचीन अथवा अर्वाचीन कवि आप की बराबरी नहीं कर सकता। अतिशयोक्तिही के नहीं, आप अनुप्रास के भी भारी भक्त थे। नैषधचरित में अनुप्रासों का बहुत ही बाहुल्य है। इस कारण, इस काव्य को और भी अधिक काठिन्य प्राप्त हो गया है। अनुप्रासादि शब्दालंकारों से कुछ आनन्द

मिलता है, यह सत्य है; परन्तु सहृदयताव्यञ्जक और सरस स्वभावोक्तियों से जितना चित्त प्रसन्न और चमत्कृत होता है उतना इन वाह्याडम्बरों से कदापि नहीं होता। तथापि अनुप्रास और अर्थकाठिन्य के पक्षपाती पण्डितों ने "उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः" कहकर किरात और शिशुपालवध से नैषध को श्रेष्ठत्व दे दिया है। अनुप्रास और अतिशयोक्ति आदि में, उन काव्यों से नैषध को चाहे भलेही श्रेष्ठत्व प्राप्त हो, परन्तु और बातों में नहीं प्राप्त हो सकता। स्वभावानुयायिनी और मनोहारिणी कविता ही यथार्थ कविता है। उसी से आत्मा तल्लीन और मन मोहित होता है। जिनको ईश्वर ने सहृदयता दी है और कालिदास के काव्यरस को आस्वादन करने की शक्ति भी दी है वही इस बात को अच्छी तरह जान सकेंगे। कालिदास का काव्य साद्यन्त "सर्वाङ्गीणरसामृतस्तिमितया वाचा" (१) से परिपूर्ण है। अस्वाभाविक वर्णन का कहीं नाम तक नहीं। समस्त काव्य सरस, सरल और नैसर्गिक है। हम नहीं जानते, देवप्रसादद्त्त कवित्वशक्ति पाकर भी श्रीहर्ष ने क्यों अपने काव्य को इतना दुरूह बनाया? यदि पाण्डित्य प्रकट करने के लिए ही उन्होंने यह बात की तो पाण्डित्य उनका उनके और और ग्रन्थों से प्रकट

---

(१) यह श्रीहर्ष ही की उक्ति है।

हो सकता था। काव्य का परमोत्तम गुण प्रसाद-गुण-सम्पन्नता है; उसी की अवहेलना करना उचित न था। नैषध के अन्तिम सर्ग में श्रीहर्ष लिखते हैं—

ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया
प्राज्ञंमन्यमना हठेन पठिती माऽस्मिन्खलः खेलतु।
श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतदृढग्रन्थिः समासादय—
त्वेतत्काव्यरसोर्म्मिमज्जनसुखव्यासज्जनं सज्जनः॥

स० २२, श्लो० १५४

भावार्थ—पण्डित होने का दर्प वहन करने वाले दुःशील मनुष्य इस काव्य के मर्म को बलात् जानने के लिए चापल्य न कर सकें—इसी लिए मैंने बुद्धिपुरःसर, कहीं कहीं, इस ग्रन्थ में ग्रन्थियां लगादी हैं। जो सज्जन श्रद्धा-भक्तिपूर्वक गुरु को प्रसन्न करके, उन गूढ़ ग्रन्थियों को सुलझा लेंगे वही इस काव्य के रस की लहरों में लहरा सकेंगे।

वाह! इतना परिश्रम आपने दो चार दुर्जनों को अपने काव्यरस से वञ्चित रखनेही के लिए किया! अस्तु। प्राचीन पण्डितों के विषय में इस तरह की अधिक बातें लिखकर हम किसी को अप्रसन्न नहीं करना चाहते।

श्रीहर्ष जी के ऊपर के श्लोक से यह ध्वनित होता है कि प्रासादिक काव्य करने की भी शक्ति उनमें

था ; परन्तु जान बूझ कर उन्होंने नैषधचरित में गाँठें लगाई हैं। लगाई तो हैं, किन्तु "क्वचित् क्वचित्" लगाई हैं ; सब कहीं नहीं। परन्तु सारल्य "क्वचित् क्वचित्" ही देख पड़ेगा, गाँठें प्राय: सर्वत्रही देख पड़ेंगी।

कालिदास के अनन्तर जो कवि हुए हैं उनके काव्यों की समालोचना करते समय जर्मनी के प्रोफेसर वेबर ने तद्विषयक अपना जो मत (१) प्रकट किया है उसका अनुवाद हम यहां पर देते हैं। वे कहते हैं—

"इस प्रकार के काव्यों में वीररसात्मकतासे सम्बन्ध क्रमश: छूटता गया है और अच्छे अच्छे शब्दों में शृङ्गार-रसात्मक वर्णन की ओर प्रवृत्ति बढ़ती गई है। कुछ दिनों में, धीरे धीरे, भाषा ने अपनी सरलता को छोड़ कर बड़े

---

(१) This latter (the other Kavyas) abandons more and more the epic domain and passes into the erotic, lyrical, or didactic descriptive field ; while the language is more and more overlaid with turgid bombast, until at length, in its later phases, this artificial epic resolves itself into a wretched jingle of words. A pretended elegance of form and the performance of difficult tricks and feats of expression, constitute the main aim of the poet ; while the subject has become a purely subordinate consideration, and merely serves as the material which enables him to display his expertness in manipulating the language. *History of Indian Literature.*

बड़े शब्दों और दीर्घ समासों का आश्रय लिया है। अन्त में यहां तक नौबत पहुँची है कि नवीन बने हुए सारे काव्य कृत्रिम शब्दाडम्बर मात्र में परिणत हो गये हैं। कविता का मुख्य उद्देश बाहरी शोभा, टेढ़ी मेढ़ी अलङ्कार और श्लेषयोजना, शब्द-विन्यासचातुरी इत्यादि समझा जाने लगा है। काव्य का विषय गौण हो गया है; उसका उपयोग कवि लोग इतनेही के लिए करने लगे हैं—जिससे उसके बहाने उनको अपना भाषा चातुर्य प्रकट करने का मौक़ा मिले।"

नैषधचरित में वेबर साहब के कहे हुए लक्षण प्रायः मिलते हैं।

डाक्टर रोयर नामके एक और भी संस्कृतज्ञ साहब की राय में नैषधचरित बहुत क्लिष्ट और नीरस काव्य है। पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की भी सम्मति नैषध के विषय में अच्छी नहीं। संस्कृत-साहित्य पर उनकी एक पुस्तक बँगला में है। उसके कुछ अंश का अनुवाद नीचे दिया जाता है—

"श्रीहर्ष में कवित्वशक्ति भी असाधारण थी, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु उनमें विशेष सहृदयता न थी। उन्होंने नैषधचरित को आद्योपान्त अत्युक्तियों से इतना भर दिया है, और उनकी रचना इतनी माधुर्य्यवर्जित, लालित्यहीन, सारशून्य और अपरिपक्व है कि इस

काव्य को किसी प्रकार उत्कृष्ट काव्य नहीं कह सकते। पूर्व-वर्णित रघुवंश, कुमारसम्भव, किरातार्ज्जुनीय और शिशुपालवध नामक काव्य-चतुष्टय के साथ इसकी तुलना नहीं हो सकती। श्रीहर्ष की अतिशयोक्तियाँ इतनी उत्कट हैं कि उनके कारण श्रीहर्ष के काव्यको उपादेयत्व न प्राप्त होकर हेयत्व ही प्राप्त हुआ है।"

तथापि, जैसा हम ऊपर कह आये हैं, इस काव्य में अनेक उत्तमोत्तम और मनोहर पद्य भी हैं। कहीं कहीं मार्मिक सहृदयता के भी उदाहरण दिखाई देते हैं। रसनिष्पत्ति भी किसी किसी स्थल विशेष में ऐसी हुई है कि हृदय आनन्द-सागर में डूब सा जाता है।

श्रीहर्ष की कविता के नमूने।

नैषधचरित के कुछ श्लोकों को उद्धृत किये बिना यह निबन्ध अपूर्ण रहेगा। अतएव हम कुछ चुने हुए श्लोक यहां देते हैं। प्रत्येक श्लोक का भावार्थ लिखने से विस्तार बढ़ेगा, तथापि संस्कृत से अनभिज्ञ लोगोंको श्रीहर्ष का काव्यरस चखाने के लिए हमें भावार्थ भी लिखनाही पड़ेगा।

राजा नल के प्रताप और यश का वर्णन सुनिए-

तदोजसस्तद्यशसः स्थिताविमौ
वृथेति चित्ते कुरुते यदा यदा ।
तनोति भानोः परिवेषकैतवात्
तदा विधिः कुण्डलनां विधोरपि ॥
सर्ग १, श्लोक १४ ॥

भावार्थ — उस राजा के प्रताप और यश के रहते, सूर्य और चन्द्रमा का होना वृथा है । इस प्रकार जब जब ब्रह्मदेव के मन में आता है तब तब वह मण्डल के बहाने, सूर्य और चन्द्र दोनों के चारों ओर कुण्डलना (घेरा) खींच देता है । अर्थात् सूर्य और चन्द्रमा का काम तो राजा नल के प्रताप और यशही से हो सकता है, फिर इनकी आवश्यकताही क्या है ?

पहले पण्डित लोग, जब हाथ से पुस्तकें लिखते थे तब, यदि कोई शब्द अधिक लिख जाता था तो उसके चारों तरफ़ हरताल से एक घेरा बना कर उसको निरर्थकता व्यक्त करते थे । उसी को देख कर, जान पड़ता है, श्रीहर्ष को यह कल्पना सूझी है । परन्तु सूझी बहुत दूर की है । इसीसे इस उक्ति से विशेष आनन्द नहीं आता । सूर्य और चन्द्रमा के आस पास कभी कभी मण्डल देख पड़ता है, सदैव नहीं । इसी से "यदा यदा"

कहा गया। सृष्टि-रचना में व्यस्त रहनेसे, इस प्रकार के सोच-विचार के लिए ब्रह्मदेव को सदा समय नहीं मिलता। परन्तु जब कभी मिलता है तब सूर्य औरचन्द्रमा को बनाना अपनी भूल समझ कर उसी समय, तत्काल, उनके आसपास वह रेखा खींच देता है। भूल सुधारनीही चाहिए।

राजा नल के घोड़ों का वर्णन—

प्रयातुमस्माकमियं कियत्पदं
धरा तदम्भोधिरपि स्थलायताम्।
इतीव वाहैर्निजवेगदर्पितैः
पयोधिरोधक्षममुत्थितं रजः॥
सर्ग १, श्लोक ६९॥

भावार्थ—इस पृथ्वीको पार कर जाना तो हमारे लिए कोई बात ही नहीं। यह है कितनी? इस प्रकार मानों मन में कहते हुए, नल के घोड़ों ने समुद्र पार कर लेनेही के लिए धूल उड़ाना आरम्भ किया। अर्थात् समुद्र भी धरातल हो जाय तो कुछ दूर चलने को तो मिले।

देखिए, कैसे चालाक घोड़े थे! इस अत्युक्ति का कहीं ठिकाना है। सुनते ही चित्त में यह भाव उदित होता है कि यह सब बनावट है। इसीसे मन मुदित नहीं होता।

नल की अयाचकता की प्रशंसा—

स्मरोपतप्तोऽपि भृशं न स प्रभु—
विदर्भराजं तनयामयाचत ।
त्यजन्त्यसून् शर्म्म च मानिनो वरं
त्यजन्ति नत्वेकमयाचितव्रतम् ॥
सर्ग १, श्लोक ५० ॥

भावार्थ—यद्यपि राजा नल को सब सामर्थ्य था तथापि, अत्यन्त कामार्त होने पर भी, उसने राजा भीम से दमयन्ती को न माँगा । यही चाहिए भी था । मनस्वी पुरुष, सुख की कौन कहे प्राण तक छोड़ने से नहीं हिचकते; परन्तु अपना अयाचित-व्रत कदापि नहीं छोड़ते । वे मर जायगे, परन्तु मांगेंगे नहीं ।

इस पद्य में कोई अत्युक्ति नहीं; बात यथार्थ कही गई है । यही कारण है जो इस को पढ़ते ही हृदय फड़क उठता है और अद्भुत आनन्द मिलता है ।

नल ने जब हंस को पकड़ लिया तब उसने नल पर खूब वाग्बाण छोड़े । देखिए—

पदे पदे सन्ति भटा रणोद्भटा
न तेषु हिंसारस एष पूर्य्यते ?
धिगीदृशन्ते नृपतेः कुविक्रमं
कृपाश्रये यः कृपणे पतत्रिणि ॥
सर्ग १, श्लोक १३२ ॥

भावार्थ—पद पद पर, सभी कहीं, अनेक रणोन्मत्त सुभट भरे हुए हैं। क्या उनसे तेरी तृप्ति नहीं होती ? उन से भिड़ कर क्यों नहीं तू अपनी हिंसावृत्ति की पूर्ति करता ? हमारे समान दीन, कृपापात्र पक्षियों के ऊपर तू अपना पराक्रम प्रकट करता है ? तेरे इस कुविक्रम को धिक्कार है !

फलेन मूलेन च वारिभूरुहां
मुनेरिवेत्थं मम यस्य वृत्तयः ।
त्वयाद्य तस्मिन्नपि दण्डधारिणा
कथं न पत्या धरणी ह्रिणीयते ?
सर्ग १, श्लोक १३३ ॥

भावार्थ—मुनियों के सदृश फल-मूलादि से अपनी जीवन-वृत्ति को चरितार्थ करने वाले मेरे ऊपर भी आज तू ने दण्ड उठाया ! तू पृथ्वी का पति है। तुझे ऐसा नृशंस कर्म करते देख, उस पृथ्वी को भी क्यों नहीं जुगुप्सा उत्पन्न होती ?

इस प्रकार नल को लज्जित करके हंस ब्रह्मा का उपालम्भ करता है—

मदेकपुत्रा जननी जरातुरा
नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी ।

गतिस्तयोरेष जनस्तमर्दय—
अहो विधे! त्वां करुणा रुणाद्धि न॥

सर्ग १, श्लोक १३५॥

भावार्थ—मैं अपनी वृद्ध माता का अकेलाही पुत्र हूँ। मेरी स्त्री अभी प्रसूता हुई है; उसकी और भी बुरी दशा है। उन दोनों की एक मात्र गति मैंही हूँ। हे विधे! मुझे इस प्रकार पीड़ा पहुँचाते क्या तुझे कुछ भी करुणा नहीं आती?

यह पद्य अत्यन्त सरस है; यह करुण-रस का आकर है। सुनते हैं, वर्त्तमान सेन्धिया-नरेश के किसी पूर्वज ने किसी कर्म्मचारी के मुख से इस श्लोक को सुन-कर उसे कारागारमुक्त कर दिया था। उस मनुष्य के कुटुम्ब की भी वही दशा थी जो हंस के कुटुम्ब की थी। वह कुछ रुपया खा गया था और कारागार के भीतर, अपनी शोचनीय स्थिति का स्मरण कर करके इसी श्लोक को बारम्बार सुस्वर गाता था। सेन्धिया ने उसके मुख से अनायास यह पद्य सुनकर उससे इसका अर्थ पूछा और हंस की तथा उसकी दोनों की समता देख, और उसके गाने के लय से प्रसन्न होकर, उसका अपराध क्षमा कर दिया। यही नहीं, उसे खिलत भी दी।

चन्द्रमा में जो कालिमा देख पड़ती है उस पर आचार्य जी की उत्प्रेक्षा सुनिए—

हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा।
कृतमध्याबिलं विलोक्यते धृतगम्भीरखनीखनीलिम ॥

सर्ग २, श्लोक २५

भावार्थ—जान पड़ता है, दमयन्ती के मुख की निर्मलता बढ़ाने के लिए ब्रह्मदेव ने चन्द्रमण्डल को निचोड़ कर उसका सार खींच लिया है। इसी से बीच में छिद्र हो जाने से उसके अन्तर्गत आकाश की नीलिमा दिखाई देती है।

ऊपर दिये हुए पद्य में श्रीहर्ष को बहुत दूर की सूझी है। यह श्लोक हंस ने, राजा नल से दमयन्ती के स्वरूप का वर्णन करते समय, कहा है।

दमयन्ती के वदन-वर्णन का नमूना होगया। अब नल के मुख-वर्णन का नमूना लीजिए—

निलीयते ह्रीविधुरः स्वजैत्रं
श्रुत्वा विधुस्तस्य मुखं मुखात्रः।
सूरे, समुद्रस्य कदापि पूरे,
कदाचिदभ्रभ्रमदभ्रगर्भे ॥

सर्ग ३, श्लोक ३३ ॥

भावार्थ—दमयन्ती से नल की प्रशंसा करते हुए

हंस कहता है—अपने मुख को जीतने वाले नल के मुख का वर्णन हमारे मुख से सुनकर, अत्यन्त लज्जित हुआ चन्द्रमा, कभी तो सूर्यमण्डल में प्रवेश कर जाता है, कभी समुद्र में कूद पड़ता है और कभी मेघमाला के पीछे छिप जाता है। ख़ूब।

उत्प्रेक्षा के साथ ही साथ शब्दों का घटाटोप भी देखने योग्य है।

तीसरे सर्ग में हंस और दमयन्ती की बातचीत है। जहाँ सहेलियों के साथ दमयन्ती बैठी थी वहीं अकस्मात् हंस पहुँच गया। उसको देखकर वे सब चकित हो गईं। दमयन्ती ने हंस को पकड़ना चाहा। वह उसके पीछे पीछे दौड़ी। जब वह बहुत दूर तक निकल गई और उसकी सहेलियां सब पीछे रह गईं, तब हंस ने उससे वार्तालाप करना आरम्भ किया। इस पर श्रीहर्ष ने बहुत ही सरस, सरल और ललित श्लोक कहे हैं। शायद इस समय वे "ग्रन्थग्रन्थि" वाली बात भूल गये थे। यहां के कई श्लोक हम उद्धृत करते हैं—

> रुषा निषिद्धालिजनां यदैनां
> छायाद्वितीयां कलयाञ्चकार।
> तदा श्रमाम्भःकणभूषिताङ्गीं
> स कीरवन्मानुषवागवादीत्॥

सर्ग ३, श्लोक १२॥

भावार्थ—क्रुद्ध होकर (ये हंस को उड़ाये देती हैं इसलिए) अपनी सहेलियों को आने से जिसने रोक दिया है; छाया के सिवा और कोई जिसके साथ नहीं; दौड़ने के श्रम से जिसके सारे शरीर पर स्वेदकण शोभा दे रहे हैं—ऐसी दमयन्ती से हंस शुकवत् मनुष्य की वाणी बोला—

अये ! कियद्यावदुपैषि दूरं ?
व्यर्थं परिश्राम्यसि वा किमर्थम् ?
उदेति ते भीरपि किन्नु ? बाले !
विलोकयन्त्या न घना वनालीः ॥
सर्ग ३, श्लोक १३ ॥

भावार्थ—अये ! कहाँ तक तू हमारे पीछे दौड़ेगी ? वृथा क्यों परिश्रम करती है ? तू तो अभी बाला है ; इस घने वन को देख कर भी क्या तुझे डर नहीं लगता ?

वृथार्पयन्तीमपथे पदं त्वां
(१) मरुल्ललत्पल्लवपाणिकम्पैः ।
आलीव पश्य प्रतिषेधतीयं
कपोतहुंकारगिरा वनालिः ॥
सर्ग ३, श्लोक १४ ॥

---

(१) राधाविनोद में भी लकार-बाहुल्य से पूरित एक श्लोक है । देखिए—

भावार्थ—तुझे कुपथ में पैर रखते देख यह वनराजी, वायु से चञ्चल होने वाले अपने पल्लवरूपी हाथों तथा कपोतों की हुङ्काररूपी वाणी से, देख, तुझे सखी के सदृश रोकती है।

धार्यः कथंकारमहं भवत्या
वियद्विहारी वसुधैकगत्या ?
अहो शिशुत्वं तव खण्डितं न
स्मरस्य सख्या वयसाप्यनेन ॥

सर्ग ३, श्लोक १५ ॥

भावार्थ—मैं आकाश में उड़ने वाला; तू पृथ्वी पर चलने वाली। फिर, तूही कह, तू किस प्रकार मुझे पकड़ सकती है ? यद्यपि तू यौवनावस्था में पदार्पण कर चुकी है तथापि तेरा लड़कपन, अभी तक, नहीं छूटा। आश्चर्य है!

यह समस्त वर्णन स्वाभाविक है। इसी से इन श्लोकों

कमलिनीं मलिनामलिनालिना
विचलतां चलतासु लता शुभाम्।
विधुतभां विधुतां विधुभानुभि-
र्नयनयोरनयोर्नयसीनयो: ॥५॥

यह पद्य ललित तो है, परन्तु यमकमय होने से क्लिष्टता-दूषित है। नैषध का पद्य इस दोष से वर्जित है और साथही सरस भी है।

से अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है। चौदहवां श्लोक बहुत ही ललित है। ऐसे ललित श्लोक नैषधचरित में कम हैं। श्रीहर्ष जी को सीधी बात अच्छी ही नहीं लगती। आपने दमयन्ती को "अकेली" नहीं कहा; "छायाद्वितीयां" कहकर नाममात्र के लिए उसको एक और साथी भी दे दिया। पन्द्रहवें श्लोक को देखकर करीमा में शेख़सादी की यह उक्ति—

चेहल साल उमरे अज़ीज़त् गुज़श्त।
मिज़ाजे तो अज़्हाल तिफ्ली न गश्त॥

स्मरण आती है।

हंस ने दमयन्ती से नल की अतिशय प्रशंसा की। फिर कहा कि मैंने ब्रह्मदेव से एक बार यह सुना है कि नलही दमयन्ती के योग्य वर है। अतएव इस विषय में तुम्हारी क्या सम्मति है? इस प्रश्न के उत्तर में श्रीहर्ष ने दमयन्ती के मुख से जो श्लोक कहाया है वह बहुतही चमत्कार-पूर्ण है। दमयन्ती कहती है—

मनस्तु यं नोज्झति जातु यातु
मनोरथः कण्ठपथं कथं सः।
का नाम बाला द्विजराजपाणि-
ग्रहाभिलाषं कथयेदभिज्ञा?॥

सर्ग ३, श्लोक ५९

भावार्थ—जिस मनोरथ को मनही नहीं छोड़ता अर्थात् जिसको मैंने हृदय में धारण कर रक्खा है वह मनोरथ कण्ठदेश को किस प्रकार जा सकता है? अर्थात् मन की बात को मैं वाणी का विषय किस प्रकार कर सकती हूँ। कहिए, कौन विवेकवती बाला स्त्री चन्द्रमा को हाथ से पकड़ने की अभिलाषा व्यक्त कर सकती है? अर्थात् हाथ से चन्द्रमा को पकड़ लेना जैसे दुस्तर है वैसेही मेरे मनोरथ की सिद्धि भी दुस्तर है।

"द्विजराज" चन्द्रमा का नाम है। अतएव "द्विजराजपाणिग्रहणाभिलाषम्" इस प्रकार छेद करने से पूर्वोक्त अर्थ निकलता है। परन्तु, "द्विज" और "राजपाणिग्रहणाभिलाषम्" इस प्रकार पृथक् पृथक् छेद करने से यह अर्थ निकलता है कि हे द्विज! (पक्षिन्!) जिसे किञ्चिन्मात्र भी बुद्धि ईश्वर ने दी है, ऐसी कौन बाला स्त्री राजा से पाणिग्रहण होने की अभिलाषा कर सकती है? अर्थात् इस प्रकार की दुष्प्राप्य अभिलाषा कोई भी कन्या अपने मुख से नहीं व्यक्त कर सकती। यह श्लोक श्लेषयुक्त है। इस में दमयन्ती ने श्लेषचातुरी से नल के द्वारा अपने पाणिग्रहण होने की अभिलाषा प्रकट करके उसका दुष्प्राप्यत्व सूचित किया है।

संयोग के अनन्तर जब वियोग होता है तभी वह अधिक दुःसह होता है। यही व्यापक नियम है।

परन्तु श्रीहर्ष जी को विप्रलम्भ-शृङ्गार वर्णन करना था। इस कारण उस नियम की ओर उन्हों ने दृक्पात नहीं किया। हंस के मुख से नल का वृत्तान्त सुन कर उन्हों ने दमयन्ती का अनुराग इतना बढ़ाया है जिसका ठिकाना नहीं। नल के गुणों का चिन्तन करके, तथा उसके स्वरूपादि की भावना करके, दमयन्ती को असह्य वेदनायें होने लगीं। ऐसी दशामें उसने चन्द्रमा और काम का अतिशय उपालम्भ किया है। उपालम्भ के पहले, दमयन्ती के ही मुखसे उसके विरह की भीषणता का हाल सुनिए—

अनुरधत्त सती स्मरतापिता
हिमवतो न तु तन्महिमादृता।
ज्वलति भालतले लिखितः सती—
विरह एव हरस्य न लोचनम्॥

सर्ग ४, श्लोक ४५

भावार्थ—पूर्व जन्म में शङ्कर के विरहही से अत्यन्त सन्तप्त होकर सती ने हिमवान् (बर्फ धारण करने वाले हिमालय) के यहां जन्म लिया। उसकी महिमा का विचार करके जन्म नहीं लिया। सती की तो यह दशा हुई; शङ्कर की उससे भी विशेष। उनके मस्तक पर, जिसे लोग तीसरा नेत्र कहते हैं वह नेत्र नहीं है किन्तु

ब्रह्मदेव का लिखा हुआ सती का प्रज्वलित विरह है।

जो जल जाता है उसे शीतल वस्तु का आश्रय लेना ही पड़ता है। सती जी शङ्कर के वियोग से अत्यन्त सन्तप्त हो रही थीं। इसी लिए, हिममण्डितशिखरधारी हिमालय के यहां अपनी वियोगाग्नि शीतल करने ही के लिए उन्हों ने जन्म लिया—यह भाव।

दहनजा न पृथुर्दवथुर्व्यथा
विरहजैव पृथुर्यदि नेदृशम्।
दहनमाशु विशन्ति कथं स्त्रियः
प्रियमपासुमुपासितुमुद्धराः॥

सर्ग ४, श्लोक ४६

भावार्थ—अग्नि से उत्पन्न हुई दाहव्यथा कोई व्यथा नहीं कहलाती। वियोगाग्नि से उत्पन्न हुई व्यथाही उत्कट व्यथा है। यदि ऐसा न होता तो स्त्रियां मृतक पति के साथ, किसी की भी परवा न करके, प्रत्यक्ष अग्नि में क्यों प्रवेश कर जातीं?

श्रीहर्ष जी की कल्पनायें देखीं? कैसे आकाश पाताल एक कर देती हैं।

अब चन्द्रोपालम्भ सुनिए। इस उपालम्भ में श्रीहर्ष ने विष्णु भगवान् तक को याद किया है-

अयि विधुं परिपृच्छ गुरोः कुतः
स्फुटमशिक्ष्यत दाहवदान्यता ?
ग्लपितशम्भुगलाद्गरलात्त्वया ?
किमुदधौ जड़! वा वडवानलात् ?

सर्ग ४, श्लोक ४८

भावार्थ—अयि सखि, तू चन्द्रमा से पूछ कि तूने किस गुरु से यह दाहिका विद्या सीखी है ? हे जड़ ! कालकूट विष पीने वाले शङ्कर के कण्ठ से सीखी है अथवा वड़वानल से सीखी है ?

शङ्कर के ललाट पर चन्द्रमा का वास है और समुद्र से वह निकला है। अतएव कहे हुए दोनों मार्गों से दाहत्व सीखना सम्भव है।

अयमयोगिवधूवधपातकै—
र्भ्रमिमवाप्य दिवः खलु पात्यते।
शितिनिशादृषदि स्फुटमुत्पतत्-
कणगणाधिकतारकिताम्बरः॥

सर्ग ४, श्लोक ४९

भावार्थ—इस चन्द्रमा ने अनेक निरपराध विरहिणी स्त्रियों को मार कर पाप कमाया है। इसी से फिरा कर, अँधेरी-रात्रि-रूप पत्थर के ऊपर, आकाश से, यह पटका

जाता है। पटकने पर, खण्ड खण्ड हो जाने से, इसके अङ्गसम्भूत कण जो ऊपर को उड़ते हैं उन्हीं से आकाश तारकित हो जाता है।

लीजिए, कृष्ण पक्ष में अधिक तारकायें दिखाई देने का कैसा अनोखा कारण श्रीहर्ष जी ने ढूँढ़ निकाला है।

त्वमभिधेहि विधुं सखि मद्गिरा
किमिदमीदृगधिक्रियते त्वया।
न गणितं यदि जन्म पयोनिधौ
हरशिरःस्थितिभूरपि विस्मृता॥
सर्ग४, श्लोक ५०

भावार्थ—हे सखि, तू मेरी ओर से इस चन्द्रमा से कह कि यह तू क्या कर रहा है? यदि तुझे महासागर से जन्मग्रहण करने की बात याद नहीं, तो क्या तू महादेव जी के शीश पर अपना रहना भी भूल गया?

अर्थात् उत्तम कुल में उत्पन्न होने वाले और शङ्कर के उत्तमाङ्ग में, गङ्गा जी के निकट, निवास करने वाले को ऐसा नृशंस कर्म करना उचित नहीं।

निपततापि न मन्दरभूभृता
त्वमुदधौ शशलाञ्छन चूर्णितः।
अपि मुनेर्जठरार्चिषि जीर्णतां
बत गतोऽसि न पीतपयोनिधेः॥
सर्ग४, श्लोक५१

भावार्थ—हे शशलाञ्छन! जिस समय मन्दराचल ने समुद्र का मन्थन किया था उस समय भी तू चूर्ण न हो गया! अथवा जब अगस्त्य मुनि ने समुद्रपान किया था तब उनके जठराग्नि में भी तू गल न गया!

अब देखिए श्रीहर्ष ने विष्णु की कैसी ख़बर ली है—

ऋजुदृशः कथयन्ति पुराविदो—
मधुभिदं किल राहुशिरश्छिदम्।
विरहिमूर्द्धभिदं निगदन्ति न
क नु शशी यदि तज्जठरानलः॥
सर्ग ४, श्लोक ६६

भावार्थ—भोले भाले पुरातत्त्ववेत्ता ऋषि, विष्णु को राहुशिरश्छिद्, अर्थात् राहु के सिर को काटने वाला, कहते हैं। यह उनकी महा भूल है। उनको चाहिए कि राहु-शिरश्छिद् के स्थान में विरहिमूर्द्धभिद्, अर्थात् विरही जनों के सिर काटने वाले, के नाम से विष्णु को पुकारें; क्योंकि, यदि वे राहु का सिर न काट लेते तो, ग्रहण के समय, चन्द्रमा उसके उदर में जाकर जठराग्नि में गल गया होता; और यदि वह गल जाता तो, विरहिणी स्त्रियों अथवा पुरुषों की चन्द्रसन्तापजात मृत्यु न होती।

क्या कहना है! इस से बढ़ी चढ़ी कल्पना और क्या हो सकती है!

दमयन्ती ने काम का भी बहुत उपालम्भ किया है; परन्तु लेख बढ़ जाने के भय से उस विषय के श्लोक हम नहीं उद्धृत करते।

इस प्रकार बकते झकते बहुत समय बीत गया। तब दमयन्ती को उसकी सखी ने समझाना और धैर्य्य देना आरम्भ किया। कुछ देर तक इन दोनों की परस्पर बातें हुईं। अन्त में सखी ने कहा—

स्फुटति हारमणौ मदनोष्मणा
हृदयमप्यनलङ्कृतमद्य ते।

भावार्थ—कामाग्नि से दग्ध होकर, हारस्थ मणि के फूट जाने से, देख, तेरा हृदय भी आज अनलङ्कृत (अलङ्कार-विहीन) हो गया।

दमयन्ती ने इसका और ही अर्थ किया। ऊपर श्लोक का पूर्वार्द्ध दिया गया है; नीचे उसी का उत्तरार्द्ध सुनिए। दमयन्ती ने कहा—

सखि, हतास्मि तदा यदि हृद्यपि
प्रियतमः स मम व्यवधापितः॥

सर्ग ४, श्लोक १०९॥

भावार्थ—यदि मेरा हृदय भी अनलङ्कृत (नल-विहीन) हो गया, अर्थात् यदि मेरे हृदय से भी मेरा प्रियतम दूर चला गया, तो फिर मैं मरी!

यह कह कर दमयन्ती मूर्छित हो गई। "अनलङ्कृत" श्लिष्ट पद है। उस से अलङ्कार-विहीनत्व और नल-विहीनत्व-सूचक दोनों अर्थ निकलते हैं। श्रीहर्ष जी की श्लेष-रचना का भी यह अच्छा उदाहरण है।

समालोचकों ने बहुत ठीक कहा है कि पीछे से बने हुए काव्यों में, मुख्य विषय की ओर तो कम, परन्तु आनुषङ्गिक बातों की ओर विशेष ध्यान दिया गया है और उन्हीं का विशेष विस्तार किया गया है। द्वितीय सर्ग में, हंस के मुख से एक बार श्रीहर्ष जी दमयन्ती का वर्णन कर चुके हैं; परन्तु उतने से आप की तृप्ति नहीं हुई। पूरा सप्तम सर्ग का सर्ग फिर भी दमयन्ती के सिर से लेकर पैर तक के वर्णन से भरा हुआ है। यही नहीं, आगे दशम सर्ग में, स्वयंवर के समय भी, इस वर्णन का पिष्टपेषण हुआ है। कहां तो नल दिक्पालों का सन्देश कहने गये थे, कहां दमयन्ती के मन्दिर में प्रवेश करके आप उसका रूप वर्णन करने लगे। सो भी एक दो श्लोकों में नहीं, आपके मुख से सैकड़ों श्लोक कहाये गये हैं। उसमें एक और भी विशेषता हुई है। श्रीहर्ष ने दमयन्ती के गुप्त अङ्गों तक का वर्णन नहीं छोड़ा। यह बात, आज तक, श्रीहर्ष को छोड़ कर और किसी महाकवि ने अपने काव्य में नहीं की। आप लिखते हैं—

अंगेन केनापि विजेतुमस्या
गवेष्यते किं चलपत्रपत्रम् ?
न चेद्विशेषादितरच्छदेभ्य-
स्तस्यास्तु कम्पस्तु कुतो भयेन ॥
सर्ग ७, श्लोक ८६ ॥

भावार्थ—इस दमयन्ती का कोई अनिर्वचनीय अङ्ग (अर्थात् जिसका नाम नहीं लिया जा सकता) क्या पीपल के पत्ते को, उसे जीतने के लिए, ढूंढ़ रहा है? हमारा तर्क ठीक जान पड़ता है; क्योंकि, यदि ऐसा न होता तो पीपल के पत्ते को, और वृक्षों के पत्तों से अधिक, किसके भय से इतना कम्प छूटता? अपने से अधिक बलवान् शत्रु जब पीछा करता है तभी मनुष्य अथवा अन्य जीव भयवश काँपने लगते हैं—यह भाव।

पीपल के पत्ते वायु से अधिक हिलते हैं। उनके हिलने पर महाकवि ने यह महाकल्पना सोची है।

दमयन्ती के सम्मुख जब नल अकस्मात् प्रकट हुआ तब दमयन्ती और उसकी सहेलियाँ चकित होकर घबरा गईं। अपने अपने आसन से वे उठ बैठीं और कर्तव्य-विमूढ़ होकर एक दूसरे की ओर देखने लगीं, कि यह कौन है और कहाँ से अचानक इस प्रकार अन्तःपुर में चला आया। कुछ देर बाद हृदय को कड़ा करके, दमयन्ती ने स्वयं ही पूँछ पाछ प्रारम्भ की—

पुरा परित्यज्य मयात्यसर्जि
स्वमासनं तत्किमिति क्षणम् ।
अनर्हमप्येतदलङ्क्रियेत
प्रयातुमीहा यदि चान्यतोऽपि ॥

सर्ग ८, श्लोक २३ ॥

भावार्थ—आपको देखते ही उठकर मैंने अपना आसन जो आपकी ओर कर दिया, वह यद्यपि आपके योग्य नहीं है, तथापि उसको—आप औरही कहीं जाने की इच्छा भले ही क्यों न रखते हों—क्षण भर के लिए तो अलङ्कृत कीजिए।

निर्वद्यतां हन्त समापयन्तौ
शिरीषकोषम्रदिमाभिमानम् ।
पादौ कियद्दूरमिमौ प्रयासे
निधित्सते तुच्छदयं मनस्ते ॥

सर्ग ८, श्लोक २४ ॥

भावार्थ—कहिए तो सही, शिरीष की कलियों की कोमलता के भी अभिमान को हरण करने वाले, अत्यन्त कोमल, इस चरणद्वय को आपका निर्दयी मन और कहां तक कष्ट देना चाहता है? अर्थात् बैठ जाइए।

अनायि देशः कतमस्त्वयाद्य
वसन्तमुक्तस्य दशां वनस्य ।
त्वदास्यसंकेततया कृतार्था
श्रव्यापि नानेन जनेन संज्ञा ॥

सर्ग ८, श्लोक २५ ॥

भावार्थ—वसन्त के चले जाने से वन की जो दशा होती है, अर्थात् वन जैसे शोभाहीन दशा को पहुँच जाता है, उस दशा में आपने किस देशको परिणत कर दिया। (आप का आगमन कहां से हुआ, यह भाव)। आप अपने मुख से अपने नाम का सङ्केत करके उसे कृतार्थ कीजिए; मैं भी तो उसे सुन लूं।

इसके अनन्तर दमयन्ती ने नल के सौन्दर्यादि का एक लम्बा चौड़ा वर्णन नल ही के सम्मुख किया है। दमयन्ती कहती है—

मही कृतार्था यदि मानवोऽसि
जितं दिवा यद्यमरेषु कोऽपि।
कुलं त्वयालङ्कृतमौरगञ्चे—
न्नाधोऽपि कस्योपरि नागलोकः ॥

सर्ग ८, श्लोक ४४ ॥

भावार्थ—यदि आप मनुष्य हैं तो पृथ्वी कृतार्थ है

यदि आप देवता हैं तो देवलोक धन्य है ; यदि आपने नाग-कुल को अलङ्कृत किया है तो, नीचे होकर भी, नागलोक किसके ऊपर नहीं ? अर्थात् आप के जन्म से वह सर्वोच्च पदवी को पहुँच गया।

इयत्कृतं केन महीजगत्या—
महो महीयः सुकृतं जनेन्।
पादौ यमुद्दिश्य तवापि पद्या—
रजःसु पद्मस्रजमारभेते॥
सर्ग ८, श्लोक ४७॥

भावार्थ—इस महीतल में इतना अधिक पुण्य किसने किया है जिसके उद्देश से आप के भी पद गलियों की धूल में कमल की सी माला बिछाते चले जाते हैं।

अवैमि ते किं किमियं न जाने
सन्देहदोलामवलम्ब्य सम्वित्।
कस्यापि धन्यस्य गृहातिथिस्त्व—
मलीकसम्भावनयाथवालम्॥
सर्ग ८, श्लोक ४८॥

भावार्थ—सन्देह की दोला का अवलम्ब करके, मैं नहीं जानती, कितने कितने प्रकार की कल्पना मेरी बुद्धि कर रही है। अच्छा, बहुत हुआ। अब इस प्रकार की

सम्भावनाओं से कोई लाभ नहीं। आपही कृपापूर्वक स्पष्ट कहिए कि किस धन्य के आप अतिथि होने आये हैं।

प्रातैव तावत् तव रूपसृष्टं
निपीय दृष्टिर्जनुषः फलं मे।
अपि श्रुती नामृतमाद्रियेतां
तयोःप्रसादीकुरुषे गिरश्चेत्॥

सर्ग ८, श्लोक ४६॥

भावार्थ—आपके इस अप्रतिम रूप को देख कर मेरी दृष्टि तो अपने जन्म का फल पा चुकी। अब आप ऐसी कृपा कीजिए जिस से मेरी कर्णेन्द्रिय भी आपका वचनामृत पान करके कृतार्थ हो जाय।

इस प्रकार नल के प्रति दमयन्ती के कथन को सुना-कर श्रीहर्ष जी कहते हैं—

इत्थं मधूत्थं रसमुद्गिरन्ती
तदोष्ठबन्धूकधनुर्विसृष्टा।
कर्णात्प्रसूनाशुगपञ्चबाणी
वाणीमिषेणास्य मनोविवेश॥

सर्ग ८, श्लोक ५०॥

भावार्थ—इस प्रकार अमृत के समान मधुर रस बर-साने वाली दमयन्ती के ओष्ठरूपी बन्धूक-पुष्प के धनुष से

निकली हुई, पुष्पशायक (काम) की पञ्चबाणी (पञ्च-बाणावली), वाणी के बहाने, कर्णद्वारा, नल के हृदय में प्रवेश कर गई। काम-बाणों से नल का अन्तःकरण छिद गया—यह भाव।

यह पद्य बहुत ही सरस है। इसका उत्तर नल ने क्या दिया, सो भी सुन लीजिए—

हरित्पतीनां सदसः प्रतीहि
त्वदीयमेवातिथिमागतं माम्।
वहन्तमन्तर्गुरुणादरेण
प्राणानिव स्वप्रभुवाचकानि॥

सर्ग ८, श्लोक ५५॥

भावार्थ—अपने स्वामिवर्ग के सन्देश को प्राणों के समान अन्तःकरण में बड़े आदर से धारण करके दिक्-पाल-देवताओं की सभा से मैं तुम्हारा ही अतिथि होने आया हूं।

विरम्यतां भूतवती सपर्य्या
निविश्यतामासनमुज्झितं किम्?
या दूतता नः फलिनी विधेया
सैवातिथेयी पृथुरुद्भविश्री॥

सर्ग ८, श्लोक ५६॥

भावार्थ—बस, रहने दीजिए; मेरा आदर हो चुका। बैठिए, आसन क्यों छोड़ दिया? मैं जिस काम के लिए तुम्हारे पास आया हूं उस काम को यदि तुम सफल कर दोगी तो उसी सफलता को मैं अपना सर्व्वोत्तम आतिथ्य समझूंगा।

नैषध के नवम सर्ग की कथा बहुत ही मनोहारिणी है। यह सर्ग सब सर्गों की अपेक्षा विशेष रम्य है। नल से दमयन्ती ने उनका नाम धाम पूछा था। सो तो उसने बताया नहीं। आप एक लम्बी चौड़ी वक्तृता द्वारा देवताओं का सन्देश घण्टों गाते रहे। "वह तुम को अतिशय चाहता है; तुम्हारे बिना उसकी यह दशा हो रही है; उसका तुम अवश्य अङ्गीकार करो"—इत्यादि अनेक बातें नल ने दमयन्ती से कहीं। इस शिष्टाचार-विघातक व्यवहार को देख कर दमयन्ती ने नल का बहुत उपालम्भ किया और नाम-धाम इत्यादि बताने के लिए पुनः पुनः अनुरोध किया। परन्तु नल ने एक न मानी। बहुत कहने पर आपने "मैं चन्द्रवंशाङ्कुर हूं" इतनाही बतलाया; अधिक नहीं। नल कहने लगा—"मैं सन्देश कहने आया हूं। सन्देश कहने वाले दूत का काम 'हम', 'तुम', इत्यादि शब्दों से ही चल सकता है; नामादि बतलाने की आवश्यकता नहीं होती"। अपने कुल के विषय में नल ने इतना अवश्य कहा—

यदि स्वभावान्मम नोज्ज्वलं कुलं
ततस्तदुद्भावनमौचितो कुतः।
अथावदातं तदहो विडम्बना
यथातथा प्रेष्यतयोपसेदुषः॥

सर्ग ६, श्लोक १० ॥

भावार्थ—यदि मेरा कुल प्रशस्त नहीं है तो बुरी वस्तु का नाम कैसे लूँ ? और यदि है, तो अच्छे कुल में जन्म लेकर इस प्रकार दूतत्व करना मेरी विडम्बना है। अत: उस विषय में चुप रहनाही अच्छा है। परन्तु किसी तरह, बहुत सोच सङ्कोच के अनन्तर, आपने "हिमांशुवंशस्य करीरमेव मां" कहकर अपने को चन्द्रवंशी बतलाया। इतना बतलाकर, पुनर्वार दमयन्ती के द्वारा जब अपना नाम बतलाने के लिए नल अनुरुद्ध किये गये तब आप कहने लगे—

महाजनाचारपरम्परेदृशी
स्वनाम नामाददते न साधवः।
अतोऽभिधातुं न तदुत्सहे पुन—
र्जनःकिलाचारमुचं विगायति॥

सर्ग ८ श्लोक १३ ॥

भावार्थ—सत्पुरुषों की यह रीति है कि वे अपने

मुख से अपना नाम नहीं लेते। इसीलिए, मैं भी तुमसे अपना नाम बतलाने का साहस नहीं कर सकता, क्योंकि सदाचार के प्रतिकूल व्यवहार करने वाले की लोक में निन्दा होती है।

इस पर दमयन्ती ने नल का फिर भी उपालम्भ करना प्रारम्भ किया। वह कहने लगी—"वाह, कुछ तो आप बतलाते हैं और कुछ नहीं बतलाते। अच्छी वञ्चना-चातुरी आपने सीखी है। यदि आप अपना नाम न बतलावेंगे तो मैं भी आपके प्रश्नों का उत्तर न दूंगी। क्या आप नहीं जानते कि पर-पुरुष के साथ कुल-कन्याओं को इस प्रकार उत्तर-प्रत्युत्तर करते बैठना उचित नहीं है"?

यह सुनकर नल बहुत घबराया और कहने लगा—"मुझको धिक्कार है कि मैं दूतत्व का भी काम अच्छे प्रकार नहीं कर सकता। शीघ्रता के काम में इतनी देरी मैं कर रहा हूं! हे दमयन्ति! तुझ को उचित है कि अपनी इस मधुर वाणी का प्रयोग, जो मेरे साथ वृथा वार्तालाप में कर रही है, देवताओं के सन्देश का उत्तर देने में कर के उनको कृतार्थ कर। क्योंकि—

यथा यथेह त्वद्पेक्षयानया
निमेषमप्येष जनो विलम्बते।

यथा यथा शरव्यीकरणे दिवौकसां
तथा तथाद्य त्वरते रतेः पतिः ॥

सर्ग ९, श्लोक २० ॥

भावार्थ—जैसे जैसे मैं यहां इस प्रकार तुम्हारे उत्तर की अपेक्षा में पल पल की देरी कर रहा हूं वैसेही वैसे रतिनायक देवताओं को अपने बाण का निशाना बनाने के लिए शीघ्रता कर रहा है।" इस तरह, नल का हठ देख कर दमयन्ती ने उत्तर दिया—

वृथा परीहास इति प्रगल्भता
न नेति च त्वादृशि वाग्विगर्हणा।
भवत्यवज्ञा च भवत्यनुत्तरा—
दतः प्रदित्सुः प्रतिवाचमस्मि ते ॥

सर्ग ९, श्लोक २५ ॥

भावार्थ—वृथा परिहास करते बैठना प्रगल्भता है; आपके सदृश महात्मा जनों से 'न, न' कहते रहना वाणी की विगर्हणा है; न बोलने से अवज्ञा होती है; अतएव उत्तर देने को मैं विवश हूं।

उत्तर में दमयन्ती ने अपने साथ विवाह करने की इच्छा रखने वाले देवताओं को बहुत धन्यवाद देकर यह कहा कि मैं नल को वर चुकी हूँ। अतएव अब मेरी

प्राप्ति के विषय में देवताओं का प्रयत्न व्यर्थ है। दमयन्ती ने यहाँ तक कहा कि—

> अपि द्रढीयः शृणु मे प्रतिश्रुतं
> स पीडयेत्पाणिमिमं न चेन्नृपः।
> हुताशनोद्बन्धनवारिवारितां
> निजायुषस्तत्करवै स्ववैरिताम्॥
>
> सर्ग ९, श्लोक ४५॥

भावार्थ – मैं अपनी दृढ़ प्रतिज्ञा आप से कहती हूँ। यदि वह नरेश्वर नल मेरा कर-ग्रहण न करेगा तो मैं अग्नि में प्रवेश करके, जल में डूब कर, अथवा गले में फाँसी लगाकर अपने इस दुष्ट आयुष्य के वैर से मुक्त हो जाऊँगी।

स्मरण रहे, दमयन्ती यह सब नल से ही कह रही है। इस कथन में यह सब से बड़ी विशेषता है।

प्रतिज्ञा के अनन्तर दमयन्ती ने नल की प्राप्ति के विषय में अतीव औत्सुक्य और अतीव अधैर्य प्रकट किया। उसने कहा—

"स्वयंवर होने में एक ही दिन शेष है। परन्तु मेरे प्राणों का अन्त इस एक दिन के अन्त होने के पहले ही होना चाहता है। अतएव मेरे ऊपर दया करके आप एक दिन यहीं ठहर जाइए, जिससे आप को देख

देख कर किसी प्रकार मैं यह एक दिन काटने में समर्थ हो जाऊँ। मैं आप को इसलिए ठहराना चाहती हूँ, कि उस हंसने अपने पद के नखों से पृथ्वी पर मेरे प्रियतम का जो चित्र खींचा था वह आप से बहुत कुछ मिलता है। अतएव, जब तक मुझे मेरे प्रियतम के दर्शन नहीं होते तब तक उस के सदृश आप को देखकर ही किसी तरह मैं अपने प्राण रखना चाहती हूँ।

इस अलौकिक अनुराग को देख और इस सुदृढ़ प्रतिज्ञा को सुनकर भी, दूतत्वधर्म से अणुमात्र भी विचलित न होकर, नल अपनी ही गाते रहे और बार बार यही सिद्ध करते गये कि मनुष्य को छोड़ देवताओं से ही सम्बन्ध करने में तुम्हारी भलाई है। जब दमयन्ती ने किसी प्रकार उन के उपदेश को न माना तब आपने उसे बिभीषिका दिखाना प्रारम्भ किया। नल ने कहा कि यदि वरुण और अग्नि तुम्हारे विरुद्ध हो जायँगे तो जल और अग्नि के बिना तुम्हारा पिता कन्यादान ही न कर सकेगा। यदि यम विरुद्ध हो जायगा तो तुम्हारे अथवा वर के पक्ष का कोई न कोई मनुष्य वह मार डालेगा। अतएव सूतक हो जाने से नल के साथ तुम्हारा विवाह न हो सकेगा। इन्द्र यदि कल्पवृक्ष से तुम को माँग लेगा तो उस के पास तुम्हें अवश्य ही जाना पड़ेगा। अतएव—

इदं महत्तेऽभिहितं हितं मया
विहाय मोहं दमयन्ति ! चिन्तय ।
सुरेषु विघ्नैकपरेषु को नरः
करस्थमप्यर्थमवाप्तुमीश्वरः

सर्ग ८, श्लोक ८३ ॥

अर्थात्—हे दमयन्ति ! मैंने जो कुछ तुम से कहा, तुम्हारे ही हित के लिए कहा। मूर्खता को छोड़ कर कुछ तो मन में विचार कर। यदि देवता ही विघ्न करने पर उद्यत हो जायँगे तो किस का सामर्थ्य है कि हथेली पर रक्खी हुई वस्तु को भी वह हाथ लगा सके ?

ये सब बातें दमयन्ती के चित्त में जम गईं। उसने यथार्थ ही समझ लिया कि अब मैं किसी प्रकार नल को नहीं प्राप्त कर सकती। इस तरह हताश हो जाने के कारण वह अत्यन्त विह्वल होकर विलाप करने लगी। दमयन्ती का यह विलाप ऐसा कारुणिक है कि जिस में कुछ भी सहृदयता है वह उसे पढ़ कर साश्रु हुए बिना कदापि नहीं रह सकता।

आँसू गिराते हुए दमयन्ती कहती है—

त्वरस्व पञ्चेषुहुताशनात्मन—
स्तनुष्व मद्भस्मचयं यशश्चयम् ।

विधे ! परेहाफलभङ्गणव्रती
　　पताद्य तृप्यन्नसुभिर्ममाफलैः ॥

सर्ग ८, श्लोक ८८ ॥

भावार्थ—हे कामाग्ने ! तू शीघ्र ही मेरे शरीर को भस्म करके अपने यशःसमूह का विस्तार कर। हे विधाता ! दूसरे की कामना भङ्ग करना ही तेरा कुलव्रत है! तू भी मेरे इन दुष्ट प्राणों से तृप्त होकर पतित होजा !

भृशं वियोगानलताप्यमान ! किं
　　विलीयसे न त्वमयोमयं यदि ।
स्मरेषुभिर्भेद्य ! न वज्रमप्यसि
　　ब्रवीषि न स्वान्त ! कथं न दीर्य्यसे ?

सर्ग ८, श्लोक ८९ ॥

भावार्थ—हे अन्तःकरण ! वियोग रूपी ज्वाला से प्रज्वलित होकर भी तू क्यों नहीं विलय को प्राप्त होता ? यदि तू लोहे का है, तो भी तो तप्त होने से तुझे गल जाना चाहिये ! यदि यह कहूं कि तू लोहे का नहीं, किन्तु वज्र का है, इससे नहीं गलता, तो तू काम-बाणों से विध रहा है। अतएव तू वज्र का भी नहीं। फिर तू ही कह, तू किस वस्तु से बना है ? क्यों नहीं तू विदीर्ण हो जाता ?

विलम्बसे जीवित ! किं, द्रव द्रुतं
ज्वलत्यदस्ते हृदयं निकेतनम् ।*
जहासि नाद्यापि मृषासुखासिका-
मपूर्वमालस्यमहो तवेदृशम् ॥

सर्ग ९ श्लोक ९० ॥

भावार्थ—हे जीवित ! तू देरी क्यों कर रहा है ? क्यों नहीं झट पट निकल खड़ा होता ? क्या तुझ को सूझ नहीं पड़ता कि तेरा घर, अर्थात् मेरा हृदय, जहाँ तू बैठा है, जल रहा है ? तेरा आलस्य देख कर आश्चर्य होता है । क्या अब तक तुझ को सुख की आशा बनी हुई है ? जब घर में आग लगती है तब उस में कोई नहीं रहता ; शीघ्र ही बाहर निकल आता है—यह भाव ।

---

*जान पड़ता है कि फारसी के कवि गाफ़िल के समान दमयन्ती को भी यह ज्ञान न था कि इसी हृदय में ही मेरे प्रियतम का वास है । यदि ऐसा न होता तो वह उसे जलने क्यों देती ? गाफ़िल ने कहा है—

दिल रा ज़ुबस बफ़ुरक़त जानाना सोख़्तेम ।
गाफ़िल कि ऊ बख़ाना व मा ख़ाना सोख़्तेम ॥

अर्थात्—प्रियतम के वियोग में हमने अपने हृदय को वृथा जलाया । हम यह न जानते थे कि इसी हृदयरूपी घर में उसका निवास है । हा ! जिस घर में वह था उसी को हमने जला दिया ?

कवि का आशय यहां ईश्वर से है तथापि किसी भी प्रेमी के विषय में ऐसी उक्ति घटित हो सकती है ।

अमूनि गच्छन्ति युगानि न क्षणः
    कियत्सहिष्ये न हि मृत्युरस्ति मे।
स मां न कान्तः स्फुटमन्तरुज्झिता
    न तं मनस्तच्च न कायवायवः॥

सर्ग ९, श्लोक ९४॥

भावार्थ—इस समय, मेरा एक एक क्षण एक एक युग के समान जा रहा है। कहां तक सहन करूँ! मुझे मृत्यु भी नहीं आती। मेरा प्रियतम मेरे अन्तः-करण को नहीं छोड़ता और मेरा प्राण मेरे मन को नहीं छोड़ता। हाय हाय! अपार दुःख परम्परा है!

कथावशेषं तव सा कृते गते—
    त्युपैष्यति श्रोत्रपथं कथं न ते?
दयाणुना मां समनुग्रहीष्यसे
    तदापि तावद्यदि नाथ! नाधुना॥

सर्ग ९, श्लोक ९९॥

भावार्थ—हे प्रियतम! तुम्हारे लिए दमयन्ती कथा-वशेष हो गई—पञ्चत्व को प्राप्त हो गई—यह तुम पीछे से क्या न सुनोगे? ज़रूर सुनोगे। अतः, हे नाथ! यदि इस समय मुझ पर तुम को दया नहीं आती तो उस अमङ्गल संवाद को सुनने पर तो अपनी दया के दो एक

कर्णों से मुझे अनुगृहीत करना। अर्थात् मेरे मरने पर भी मेरा स्मरण यदि तुम को आ जायगा तो भी मुझ पर तुम्हारा महान् अनुग्रह होगा।

ममादरीदं विदरीतुमान्तरं
तदार्थिकल्पद्रुम ! किञ्चिदर्थये ।
भिदां हृदि द्वारमवाप्य मैव मे
हतासुभिः प्राणसमः समं गमः ॥

सर्ग ९, श्लोक १०० ॥

भावार्थ—हे अर्थिकल्पद्रुम ! अब मेरा हृदय विदीर्ण होने को चाहता है। इससे मैं तुम से कुछ माँगती हूँ। हे प्राणसम ! मेरा हृदय फटने से दरार रूपी जो द्वार हो जायगा उस द्वार से, मेरे पापी प्राणों के साथ, मेरे हृदय से कहीं तुम न चले जाना ! बस, यही मेरी याचना है।

दमयन्ती का यह कहना, नल के ऊपर वज्राघात सा हुआ। क्या ही अपूर्व कवित्व है ! याचकों के कल्पद्रुम से उस की प्रियतमा की यह याचना ! इतनी तुच्छ ! याचना क्या कि प्राण चले जायँ परन्तु तुम न जाव। क्योंकि, तुम्हारे रहने से, वासना के बल, मैं अन्य जन्म में तुम को प्राप्त करने की अद्यापि आशा रखती हूँ। दमयन्ती का यही आशय जान पड़ता है। इस पाषाण-

द्रावक विलाप और इस महाप्रेमशालिनी याचना को सुन कर नल अपना दूतत्व भूल गये। उन का सारा ज्ञान जाता रहा। वे इस प्रकार प्रलाप करने लगे—

अयि प्रिये ! कस्य कृते विलप्यते ?
विलिप्यते हा मुखमश्रुबिन्दुभिः ?
पुरस्त्वयालोकि नमन्नयन्न किं
तिरञ्चलल्लोचनलीलया नलः ?

सर्ग ८, श्लोक १०३ ॥

भावार्थ—हे प्रिये ! किसके लिए तू इतना विलाप कर रही है ? हाय ! हाय ! क्यों तू अश्रुओं से अपने मुख को भिगो रही है ? यह नल, तेरे सम्मुख हो तो, तिर्य्यक् दृष्टि किये हुए नम्रता पूर्वक खड़ा है। क्या तू ने उसे नहीं देखा ?

मम त्वदङ्घ्रिनखामृतद्युतेः
किरीटमाणिक्यमयूखमञ्जरी।
उपासनामस्य करोतु रोहिणी
त्यज त्यजाकारणरोषणे ! रुषम् ॥

सर्ग ८, श्लोक १०७ ॥

भावार्थ—मेरी किरीट-मणि-मयूखरूपी रोहिणी तेरे स्वच्छ पद-नख-रूपी चन्द्रमा की उपासना करने के लिए

प्रस्तुत है। अर्थात् मैं अपना सिर तेरे पैरों पर रखता हूँ। हे अकारणकोपने! कोप न कर, कोप न कर!

रोहिणी चन्द्रमा की प्रिया है। अतएव उस के द्वारा चन्द्रमा की उपासना होनी ही उचित है—यह इस श्लोक का तात्पर्य्य है।

प्रभुत्वभूम्नानुगृहाण वा न वा
प्रणाममात्राधिगमेऽपि कः श्रमः ?
क याचतां कल्पलतासि मां प्रति
क दृष्टिदाने तव बद्धमुष्टिता ॥
सर्ग ८, श्लोक १०६ ॥

भावार्थ—मेरा और अधिक गौरव कर अथवा न कर; इस विषय में मैं कुछ नहीं कहता; परन्तु मेरे प्रणाममात्र का अङ्गीकार करने में कौन बड़ा परिश्रम है? याचकों के लिए तो तू कल्पलता हो रही है; परन्तु मेरे लिए इतनी बद्धमुष्टिता कि दृष्टि-दान तक नहीं देती—एक बार मेरी ओर देखती भी नहीं!

समापय प्रावृषमश्रुविप्रुषां
स्मितेन विश्राणय कौमुदीमुदः।
दृशावितः खेलतु खञ्जनद्वयी
विकाशि पंकेरुहमस्तु ते मुखम् ॥
सर्ग ८, श्लोक ११२ ॥

भावार्थ—अश्रु बरसाना बन्द कर; मन्द मुसुकान से चन्द्र की भी चन्द्रिका को प्रसन्न कर; नेत्र रूपी खञ्जन-युग्म को देखने दे; कमल के समान मुख को प्रफुल्लित कर।

गिरानुकम्पस्व दयस्व चुम्बनैः
प्रसीद शुश्रूषयितुं मया कुचौ।
निशेव चान्द्रस्य करोत्करस्य य-
न्मम त्वमेकासि नलस्य जीवितम्॥

सर्ग ८, श्लोक ११८॥

भावार्थ—कृपा करके बोल; दया कर के चुम्बन दान दे; प्रसन्न होकर अपने शरीर को स्पर्श करने दे; क्योंकि चन्द्रमा के किरण-समूह की अवलम्बभूता निशा के समान, मुझ नल की एक मात्र तूही प्राणाधार है।

इस प्रकार प्रलाप करने के अनन्तर जब प्रबोध हुआ तब नल ने अत्यन्त पश्चात्ताप किया। लोग मुझे क्या कहेंगे? सुरेन्द्रादि देवता अपने मन में क्या समझेंगे? इस प्रकार तर्क वितर्क करके नल ने बहुत विषाद किया। इस अवसर की एक उक्ति नल के मुख से सुनिए—

स्फुटत्यदः किं हृदयं त्रपाभराद्
यदस्य शुद्धैर्विबुधैर्विबुध्यताम्।

विदन्तु ते तत्त्वमिदन्तु दन्तुरं
जनानने कः करमर्पयिष्यति ?

सर्ग ८, श्लोक १२४ ॥

भावार्थ—मेरा हृदय लज्जा से फट क्यों नहीं जाता ? यदि यह फट जाता तो शुद्ध-हृदय देवताओं को इस की शुद्धता तो विदित हो जाती। देवताओं को मेरे हृदय की शुद्धता विदित हो अथवा न हो, परन्तु नाना प्रकार की अपवाद-सूचक बातें करने वाले लोगों के मुख पर कौन हाथ धरेगा ? यही महा दुःख है !

नल ने किस युक्ति और किस दृढ़ता से देवताओं का काम किया, सो लिखा ही जा चुका है। तिस पर भी ऐसे ऐसे उद्गार ! नल की धर्मभीरुता का यह बड़ा ही जाज्वल्यमान प्रमाण है।

जिस समय नल के मन में नाना प्रकार की विषम कल्पनायें उत्पन्न हो रहीं और उसे विकल कर रही थीं उसी समय उस हिरण्मय हंस ने अकस्मात् आकर आश्वासन-पूर्वक यह कहा कि इतना व्यथित होने की कोई बात नहीं। देवता तुम्हारी शुद्धता को अच्छी तरह जान गये हैं। इतना कहकर हंस वहाँ से उड़ गया। हंस के जाने पर नल ने दमयन्ती से बहुत कुछ कहा, परन्तु जो दमयन्ती पहले इतनी प्रगल्भता कर चुकी थी

उसके मुख से, नल की पहचान होने के अनन्तर, एक शब्द तक भी न निकला। श्रीहर्ष जी कहते हैं—

> विदर्भराजप्रभवा ततः परं
>
> त्रपासखी वक्तुमलं न सा नलम्।
>
> पुरस्तमूचेऽभिमुखं यदत्रपा
>
> ममज्ज तेनैव महाह्रदे ह्रियः॥
>
> सर्ग ६, श्लोक १४० ॥

भावार्थ—इतना होने पर, दमयन्ती लज्जा से इतनी अभिभूत हो गई कि नल की एक भी बात का वह उत्तर न दे सकी। पहले उसने नल के अभिमुख विशेष प्रौढ़ता के साथ बात-चीत की थी। इसीलिए उसे अब इस समय लज्जा के समुद्र में निमग्न होना पड़ा।

इसी के आगे यह श्लोक है—

> यदापवार्य्यापि न दातुमुत्तरं
>
> शशाक सख्याः श्रवसि प्रियाय सा।
>
> विहस्य सख्येव तमब्रवीत्तदा
>
> ह्रियाधुना मौनधना भवत्प्रिया॥
>
> सर्ग ६, श्लोक १४१ ॥

भावार्थ—एकान्त में भी जब दमयन्ती अपनी सखी के कान में भी नल के प्रश्नों का उत्तर देने में समर्थ न

हुई, तब सखी ही ने मन्दहास्यपूर्वक नल से कहा "
की प्रियतमा लज्जापरवशा होने के कारण मौन हो
है।" इसके न बोलने का कारण विराग न
यह भाव।

तदनन्तर सखी ने नल से दमयन्ती के अनुराग
विरहव्यथादि का वर्णन खूब ही नमक मिर्च लगा
किया।

यह निबन्ध बहुत बढ़ गया। अतएव दोही चार
श्लोक उद्धृत करके हम इस को समाप्त करना च
हैं। नीचे के पद्य में श्रीहर्ष जी की कल्पना का "द्र
डी प्राणायाम" देखने योग्य है। स्वयंवर में आये
एक राजा के विषय में यह कहना है कि इस में अक
का लेश भी नहीं है। परन्तु इस बात को श्रीहर्ष
सीधे तौर पर न कह कर इस प्रकार कहते हैं—

अस्य क्षोणिपतेः परार्द्धपरया लक्षीकृताः संख्यया
प्रज्ञाचक्षुरवेक्ष्यमाणतिमिरप्रख्याः किलाकीर्त
गीयन्ते स्वरमष्टमं कलयता जातेन वन्ध्योदरा-
न्मूकानां प्रकरेण कूर्म्मरमणीदुग्धोदधे रोधसि

सर्ग १२, श्लोक १०६ ॥

भावार्थ—परार्द्ध के पार की संख्या से लक्षी

राज़ा की अकीर्तियाँ, कच्छपी के दुग्ध से उत्पन्न हुए समुद्र के तट पर, वन्ध्या के उदर से उत्पन्न मूकों के समूह द्वारा, अष्टम स्वर में, गाई जाती हैं। अर्थात् जैसे इन सब वर्णित वस्तुओं का अभाव है वैसे ही इस राजा की अकीर्तियों का भी अभाव समझना चाहिए। इस नरेश में अकीर्तिलेश भी आकाशकुसुमवत् है—यह भाव।

श्लेषमयी "पञ्चनली" का उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं। उसका अन्तिम श्लिष्ट श्लोक यह है—

देवः पतिर्विदुषि ! नैषधराजगत्या
निर्णीयते न किमु न व्रियते भवत्या ?
नायं नलः खलु तवातिमहा नलाभो
यद्येनमुज्झसि वरः कतरःपुनस्ते ?

सर्ग १३, श्लोक ३३॥

नल के सम्मुख दमयन्ती खड़ी है। इस श्लोक में नल और देवता दोनों का अर्थ व्यञ्जित करके, सरस्वती उसे मोह में डाल रही है। देवार्थ कैसे निकलता है, सो पहले देखिए—

अन्वय—(हे) विदुषि ! एषः धराजगत्याः पतिः न, (किन्तु) देवः। भवत्या न निर्णीयते किमु ? न व्रियते (किमु) ? अयं तव नलः न खलु, (किन्तु) अति महानलाभः। यदि एनं उज्झसि, पुनः ते वरः कतरः ?

भावार्थ—हे विदुषि ! यह पृथ्वी का पति नहीं है; यह देवता है। क्या तू इसको वरणमाल्य पहनाने की इच्छा नहीं रखती ? सच कहती हूँ, यह तेरा नल नहीं है; किन्तु नल की आभा मात्र है। यदि तू इसे छोड़-देगी तो फिर और कौन तेरा वर होगा ?

यह तो देव-पक्ष का अर्थ हुआ। अब नल-पक्ष का अर्थ सुनिए—

अन्वय—(हे) विदुषि ! एष: देव: (१) नैषधराजगत्या पति: न निर्णीयते किमु ? न व्रियते (किमु) ? अयं ना(२) नल: खलु ; यदि एनं उज्झसि, तव अति महान् अलाभ:; पुन: ते वर: कतर: ?

भावार्थ—हे विदुषि ! (पण्डिते !) नैषधराज के वेश में अपने पति इस राजा को क्या तू नहीं पहचानती और क्या तू इसको वरणमाल्य पहनाने की इच्छा नहीं रखती ? यदि तू इसे छोड़ देगी तो तेरी भारी हानि होगी; फिर और कौन तेरा वर होगा ?

श्रीहर्ष जी की "पञ्चनली" के श्लिष्ट कवित्व का यह नमूना हुआ। त्रयोदश सर्ग में इसी तरह अपूर्व कौशल से उन्होंने प्राय: प्रत्येक श्लोक में बराबर दो दो अर्थ संश्लिष्ट किये हैं।

श्रीहर्ष के श्लेषवैलक्षण्य का एक और उदाहरण

---

(१) देव: = राजा। (२) ना = पुरुष:।

देखिए। इस पद्य को पढ़कर बड़ी हँसी आती है। कवि ने इस में चन्द्रमा की नाक और कान काट कर, शूर्पणखा के मुख से उसकी तुलना की है। बाईसवें सर्ग में, सन्ध्या-समय, दमयन्ती को सम्बोधन करके नल चन्द्रमा का वर्णन करता है—

अकर्णनासस्त्रपते मुखं ते
पश्यन्न सीतास्यमिवाभिरामम्।
रक्तोस्रवर्षी बत लक्ष्मणाभि--
भूतः शशी शूर्पणखामुखाभः॥

सर्ग २२, श्लोक ५१॥

भावार्थ—कर्ण और नासा-रहित, लाल लाल किरणों की वर्षा करने वाला, कलङ्क से अभिभूत हुआ, शूर्पणखा के समान, यह चन्द्रमा—सर्व-अवयव-संयुत, सीता के मुख-सदृश सुन्दर, तेरे इस मुख को देख करके भी लज्जित नहीं होता! अर्थात् लज्जा से मुख न छिपा कर पुन: पुन: आकाश में उदित होता है। यह आश्चर्य की बात है या नहीं? इसे तो डूब मरना चाहिए था!

चन्द्रमा और शूर्पणखा के मुख में समता किस प्रकार है सो सुनिए। शूर्पणखा के नाक और कान काट लिये जाने के कारण उसका मुख नासा-कर्ण-हीन हो गया था।

चन्द्रबिम्ब में स्वभाव ही से नासा और कर्ण नहीं। अतएव दोनों ही "अकर्णनास" हुए। नाक-कान कट जाने से शूर्पणखा के मुख से रक्त की धारा बहने लगी थी। चन्द्रमण्डलसे रक्त के रङ्ग की अरुण-किरण-रूपी-धारा बहती है। अतएव दोनों ही "रक्तोस्त्रवर्षी" हुए। शूर्पणखा का मुख लक्ष्मण जी के द्वारा अभिभूत हुआ था। चन्द्रमा भी "लक्ष्मणा-कलङ्केन" अर्थात् कलङ्क-वाची लक्ष्म के द्वारा अभिभूत हो रहा है। अतएव दोनों ही "लक्ष्मणाभिभूत" हुए। शूर्पणखा के मुख को "अभिरामं सीतास्यं" अर्थात् रामचन्द्र के सम्मुख स्थित भी सीता के मुख को देख कर लज्जा न आई थी। यहाँ चन्द्रमा को भी "अभिरामं सीतास्यमिव" अर्थात् अति सौन्दर्य्यमान सीता के मुख सदृश दमयन्ती के मुख को देख कर लज्जा नहीं आती। इस प्रकार शब्दच्छल से दोनों में समता दिखा दी गई। देखिए तो सही, कैसे योग्यतापूर्ण श्लिष्ट पद रख कर और चन्द्रमा की नाक तथा कान काट कर, शूर्पणखा के मुख की तुल्यता उस में उत्पन्न की गई है! कवे धन्योऽसि।

दमयन्ती के पाणिग्रहण के समय के दो श्लोक सुनिए। कहीं कहीं यह आचार है कि कन्यादान के समय वधू और वर दोनों के हाथ कुश से बाँध दिये जाते हैं। इस बाँधने पर उत्प्रेक्षा—

वरस्यः पाणिः परघातकौतुकी
वधूकरः पङ्कजकान्तितस्करः ।
सुराज्ञि तौ तत्र विदर्भमण्डले
ततो निबद्धौ किमु कर्कशैः कुशैः ?

सर्ग १६, श्लोक १३ ॥

भावार्थ—वर के हाथ ने परघात करना कौतुक समझा है और वधू के हाथ ने कमल की कान्ति चुराई है। क्या इसी लिए वधू और वर दोनों के हाथ कर्कश कुशों से बाँधे गये हैं ? विदर्भ-मण्डल में सुराज्य है, अर्थात् विदर्भाधिप धर्म्मानुसार प्रजापालन करते हैं। अतएव उनके देश में चोर और पर-प्राणनाशक लोगों के अवश्य ही हथकड़ी पड़नी चाहिए !

"पर" का अर्थ "और" भी है, तथा "शत्रु" भी है। नल के लिए "पर" से "शत्रु" का अर्थ-ग्रहण करके पर-हिंसाजात अनिष्टापत्ति का वारण करना चाहिए। शत्रुओं को मारना राजाओं का धर्म्म ही है ; इस कारण उस अर्थ से कोई हानि नहीं। तथापि, वर के हाथ में कुशबन्धन-रूपी हथकड़ी डालने के समर्थनार्थ, शब्दच्छल से, "पर" का अर्थ "और" भी लेना पड़ता है। तात्पर्य्य यह कि पहले तो श्लेषमूलक विरोध का आभास बोध होता है ; फिर उसका परिहार हो जाता है।

ऊपर दिये गये श्लोक के आगे, दूसरे श्लोक में, श्रीहर्ष जीने कैसा विनोद किया है, सो देखिए।

विदर्भजायाः करवारिजेन य-
न्नलस्य पाणेरुपरि स्थितं किल।
विशंक्य सूत्रं पुरुषायितस्य तद्
भविष्यतोऽस्मायि तदा तदालिभिः॥

सर्ग १६, श्लोक १५॥

भावार्थ—कन्यादानके समय दमयन्ती के करकमल को नल के कर के ऊपर देख—आगे होने वाले पुरुषायित का अभी से सूत्रपात हुआ—इस प्रकार मन में तर्क करके दमयन्ती की सहेलियां मुसकाने लगीं।

और और द्वीपों के स्वामियों, देवताओं तथा वासुकि आदि नागों का वर्णन करके, दमयन्ती को साथ लिए हुए, भरतखण्ड के राजवर्ग के सम्मुख आकर सरस्वती कहती है—

देव्याभ्यधायि भव भीरु! धृतावधाना
भूमीभुजस्त्यजत भीमभुवो निरीक्षाम्।
आलोकितामपि पुनः पिबतां दृशैता-
मिच्छापि गच्छति न वत्सरकोटिभिर्वः॥

सर्ग ११, श्लोक २४॥

भावार्थ—हे भीरु! (दमयन्ति!) सावधान होकर श्रवण कर। हे राजवर्ग! आप लोग भी अब दमयन्ती की ओर देखना बन्द कीजिए। क्योंकि करोड़ वर्ष पर्य्यन्त बार बार देख करके भी, इस लावण्य को नेत्र द्वारा यदि आप पान करते रहेंगे, तो भी आपकी कदापि तृप्ति न होगी।

जिस प्रकार दमयन्ती को पुनः पुन: अवलोकन करके फिर भी उसकी ओर देखने की इच्छा, राजा लोगों की बनीही रही, उसी प्रकार नैषध में क्लिष्टता और अस्वाभाविकता आदि दोष होने पर भी जो अनेक अद्भुत अद्भुत श्लोक हैं उनको उद्धृत करने की हमारी इच्छा बनी ही है। तथापि यह लेख बहुत बढ़ गया। अतएव, विवश होकर, उस इच्छा को पूर्ण सफल करने से हमें विरत होना पड़ता है।

यह काव्य शृङ्गाररस-प्रधान है। अतएव उस रस के अनुकूल एक आशीर्वादात्मक पद्य नैषध से उद्धृत करके इस निबन्ध को हम समाप्त करते हैं। ऊपर जो श्लोक दिया गया है उसी के आगे, स्वयंवरस्थ राजा लोगों को सम्बोधन करके सरस्वती कहती है—

लोकेशकेशवशिवानपि यश्चकार
श्रृंगारसान्तरभशान्तरशान्तभावान्।

पञ्चेन्द्रियाणि जगतामिषुपञ्चकेन
संक्षोभयन् वितनुतां वितनुर्मुदं वः ॥

सर्ग ११, श्लोक २५ ॥

भावार्थ—ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि के भी शान्तभाव को जिसने शृङ्गारिक भावों से जर्जर कर दिया है; और अपने पाँचों बाणों से जिसने सांसारिक जनों की पाँचों इन्द्रियों को क्षुब्ध किया है—ऐसा वह भगवान् पञ्च-शायक आपको प्रमुदित करे!

ऊपर कई एक सानुप्रास पद्य उद्धृत हो चुके हैं। इस श्लोक से भी श्रीहर्ष जी के अनुप्रास-कौशल की छटा झलक रही है।

पुस्तक मिलने का पता—

हरिदास एण्ड कम्पनी,

२०१ हरिसन रोड,

कलकत्ता।